कालजयी और युवा

रज़ा फाउण्डेशन | The Raza Foundation

www.therazafoundation.org

|| युवा 2017 ||

कालजयी और युवा

गजानन माधव मुक्तिबोध
जन्मशती के अवसर पर

रज़ा फ़ाउण्डेशन एवं कृष्णा सोबती शिवनाथ निधि

|| युवा 2017 ||

22–23 नवंबर 2017 नयी दिल्ली

रज़ा फ़ाउण्डेशन | The Raza Foundation
www.therazafoundation.org

कालजयी और युवा
परिकल्पना एवं संयोजनः अशोक वाजपेयी
सभी चित्रः सैयद हैदर रज़ा
सहयोग : पीयूष दइया
आकल्पन : सरत नायक

रज़ा फ़ाउण्डेशन
सी–4/139, सफ़दरजंग डेवल्पमेण्ट एरिया,
नयी दिल्ली – 110016
इ–मेलः razafoundation.delhi@gmail.com

अनुक्रम

अँधेरे में		6-18
	लवली गोस्वामी	7
	पल्लवी त्रिवेदी	9
	विपिन चौधरी	12
	गीत चतुर्वेदी	14
	सन्तोष कुमार चतुर्वेदी	17
ज़िंदगीनामा		19-34
	नीलोत्पल	20
	समर्थ वाशिष्ठ	23
	शिल्पी	25
	पूनम अरोड़ा	28
	अनुराधा सिंह	31
अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रताः कटौतियाँ, चुप्पियाँ, चतुराई और चालाकियाँ		34-47
	पराग मांदले	35
	संजय कबीर	38
	अमिताभ राय	40
	मोबिन जहोरोद्दीन	42
	बलराम कांवट	44
	मृत्युंजय प्रभाकर	46
अंतिम अरण्य		48-59
	आशुतोष भारद्वाज	49
	आस्तीक वाजपेयी	51
	प्रवीण कुमार	54
	बाबुषा कोहली	57

मलयज की आलोचना		60-68
	उमाशंकर चौधरी	61
	श्रीकांत दुबे	64
	डॉ. प्रभाकर सिंह	66
उसका बचपन		69-84
	अरुण शीतांश	70
	शिवानी	73
	राहुल सिंह	76
	ज्योति चावला	78
	सोनी पाण्डेय	81
	अनुपम सिंह	83
हम क्या याद कर और क्या भूल रहे हैं?		85-97
	शेषनाथ पांडे	86
	गौतम राजरिशी	88
	हेमंत देवलेकर	93
	शिव कुमार यादव	96
असाध्य वीणा		198-116
	शायक आलोक	99
	सौम्य मालवीय	101
	मोनिका कुमार	103
	राहुल तोमर	105
	मिथलेश शरण चौबे	108
	निशांत	111
	शंकरानंद	113

अँधेरे में

लवली गोस्वामी

दो हज़ार ग्यारह में रौन फ्रीक की एक नान नैरेटिव डाक्यूमेंट्री फ़िल्म रिलीज हुई थी। फिल्म का नाम था "संसारा" अर्थात् संसार। फ्रीक नान नैरेशन के बड़े उस्ताद माने जाते हैं। शुरुआत से उनके काम करने की थीम यही रही है। अब तक वे नान नैरेटिव स्टाइल में विश्व को कई प्रसिद्ध फ़िल्में दे चुके हैं। 'संसारा' भी उनकी एक महत्वाकांक्षी सीरिज का हिस्सा है। इस फ़िल्म की ख़ास बात यह है कि इसमें टाइम लेप्स तकनीक का इस्तेमाल किया गया है। यह तकनीक दर्शक के देखने के लिहाज़ से फ़ोटोग्राफ़ी और वीडियो के बीच की कड़ी होती है। जिसमे कि फोटो फ्रेम्स की गति को साधारण से कम स्पीड में चला कर रिकार्ड किया जाता है, और फिर उसे वीडियो में ढाला जाता है।

यह एक तरह से वीडियो के रूप में असंख्य तस्वीरों की बारिश होती है। तस्वीरों की इस बौछार का मूल सूत्र समय होता है। एक फ्रेम के भीतर आने वाली तस्वीरों की संख्या यह निर्धारित करती है कि आपका वीडियो कितना तेज़ या धीमा चलेगा। यह समय को अपने अनुरूप चलाने का कलाकार का तकनीकी कौशल है। इसमें दो–तीन सेकेंड्स के अन्दर आप सूरज को उगता और रिवर्स में फ्रेम को चला कर सूरज को डूबता सेकेंड्स में एक साथ दिखा सकते हैं। पन्द्रह दिन में खिली कली को सेकेण्डस में खिलता दिखा सकते हैं। खिले फूल को वापस फ्रेम्स उल्टा चला कर कली बनता भी दिखा सकते हैं।

यह कलाकार की समय पर प्रतीकात्मक रूप से जीत है।

रोलांबार्थ ने एक बार फ़ोटोग्राफ़ी पर विचार करते हुए लिखा था कि फोटोग्राफी का दर्शन बौद्ध धर्म के क्षणवाद की तरह है। उनका कहना कहना था "तथता" अर्थात् "हेयर इट इज" हिन्दी "मेंयह" की एक भावना हर चित्र के साथ जुड़ी होती है। चित्र उस एक क्षण का प्रतिनिधित्व करता है जिस क्षण में वह खींचा गया है। वह क्षण फिर लौट कर नहीं आएगा। चित्र उस क्षण को और उसमे उपस्थित दृश्य के अन्तर्निहित सन्देश को स्वयं में

गूँथ कर रखता है। यह तात्कालिकता की चरम परकाष्ठा है। फिर वही बात उसी तरह कभी घटित नहीं होती। यह समय की गति को पकड़ने की फ़ोटोग्राफ़र की तकनीक है, एक कलाकार की कला है। समय को यहाँ "रोका" जा रहा है। इस कला में एक तरह से समय को वैसे बांधा जा रहा है, जैसा की वह वास्तव में है, और फिर कभी वैसा ही नहीं हो सकता। मुक्तिबोध की कविता "अँधेरे में" भी ऐसी ही एक कलाकृति है। जिस पर और कई बातें जो कही जा सकती है, और जो कही जा चुकी हैं, के अलावा अँधेरे के व्यापक साम्राज्य को रेफर करने वाले चित्रों की बौछार है।

इस संयत बौछार में उपस्थित प्रत्येक चित्र का एक उद्देश्य है। वह उद्देश्य अपने समय में उपस्थित अँधेरे की पहचान करना है। इस पूरी कविता में उपस्थित हर चित्र का काम कविता के शीर्षक को रेफर करना है, बहुत साफ़ कहूँ तो "अँधेरे में.." घटित हो रहे जीवन के अर्थ को रेफर करना है।

शुरूआती दो पहले खण्डों में कवि अपने दैदीप्यमान अल्टर ईगो का परिचय आपसे कराता है और उससे संवाद करता है। फ़िर आपको समाज और अवचेतन में उपस्थित अनेक धूसर गलियारों तक ले जाता है, जहाँ पहुंचने का सामर्थ्य किसी मामूली कविता के बस में कभी नहीं होता। यही धूसर चित्रात्मक सघनता इस कविता को कलाकृति बनाती है।

इस कविता में चित्र हैं, लेकिन ये सिर्फ़ चित्र नहीं हैं। प्रत्येक चित्र का अपना सन्दर्भ है, वह किसी गहनतम बात की तरफ़ इंगित करता है। मुक्तिबोध के ही स्वरों में कहूँ तो यह "धूल के कणों में अनहद नाद का कम्पन है"। मामूली विवरण से लग रहे ये चित्र, खुद में समेकित समाज की नियति को पूरे बल से इंगित करते हैं। यह कहकर मैं कोई नयी बात नहीं कहूँगी। लेकिन यही वह सत्व है जिसे बार–बार दोहराना इसे पुख़्ता करेगा।

मुक्तिबोध ने इस कविता के समाप्त होने के लगभग बाद एक निबन्ध में लिखा था कि आज मैंने एक लम्बी कविता खत्म की और उसका अन्त मुझे कमज़ोर लगा। इसी निबन्ध में वे कविता को प्रभावशाली ढंग से ख़त्म न कर पाने की अपनी मुश्किलों के बारे में भी लिखते हैं। लेकिन मुझे अक्सर इस कविता का अन्त फूल सजाने की जापानी कला इकेबाना की याद दिलाता है। जिसमें कि फूलों के गुलदस्ते को एक निश्चित तरीक़े से इस तरह सजाया जाता है कि वह देखने वाले से मुखातिब हो और आँखों को एक अर्थ– सौन्दर्य तक ले जा सके। इस वजह से शुरुआत में आधार पर उसे सघन रखा जाता है और ऊर्ध्वाधर अन्त की तरफ वह विरल होती जाती है। अस्तित्ववाद और जनवाद के तमाम द्वन्द्व के बाद इस कविता के इस पक्ष को भी देखना मेरे लिए एक निजी सुख है।

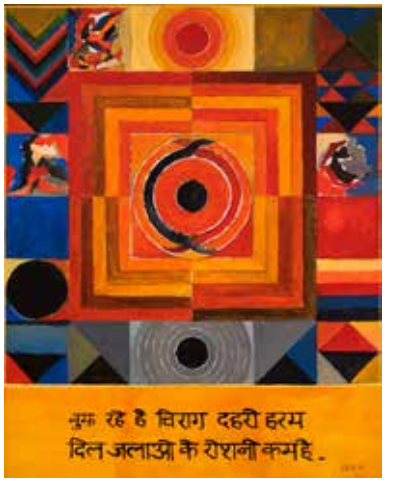

पल्लवी त्रिवेदी

'अंधेरे में' मुक्तिबोध की अन्तिम कविता है और शायद हिन्दी कविता के क्षेत्र में अपनी तरह की पहली कविता भी। बार–बार इसे पढ़ने पर यह पाठक पर खुलना प्रारम्भ करती है। महज़ एक बार पढ़कर इसमें उतरना असम्भव है। लेखक के अवचेतन मन में लगातार चलती एक दृश्यमाला है यह कविता। यह कविता स्वप्न, फेंटेसी और मन के सबसे भीतरी कोने में गहरे दबे हुए उन विचारों का मिश्रण है जो न केवल लेखक के दिलोदिमाग़ में चलती उथल–पुथल को व्यक्त करती है बल्कि अपने साथ–साथ उस काल के समूचे राजनैतिक, सामाजिक परिदृश्य को समेटकर चलती है।

कविता अपनी प्रारम्भिक पंक्तियों से ही आसपास फैले गहन अंधेरे में एक अनजान व्यक्ति की उपस्थिति से परिचय कराती है।

'ज़िन्दगी के...
कमरों में अँधेरे
लगाता है चक्कर
कोई एक लगातार;
आवाज़ पैरों की देती है सुनाई
बार–बार....बार–बार,
वह नहीं दीखता... नहीं ही दीखता,
किन्तु वह रहा घूम
तिलस्मी खोह में गिरफ़्तार कोई एक,
भीत–पार आती हुई पास से,
गहन रहस्यमय अन्धकार ध्वनि–सा'

कौन है यह अनजान व्यक्ति जो रहस्यमयी है, जिसका चेहरा उखड़ी दीवारों की पपड़ियों में बनता है, जिसकी ध्वनि सुनायी देती है। एक तिलिस्मी खोह में दिखायी दिया यह व्यक्ति बार बार कवि के सम्मुख आता है। कविता के पहले खण्ड में ही कवि इस रहस्ययुक्त व्यक्ति को अपनी अभिव्यक्ति की संज्ञा देता है।

'वह रहस्यमय व्यक्ति
अब तक न पायी गयी मेरी अभिव्यक्ति है
पूर्ण अवस्था वह
निज–सम्भावनाओं, निहित प्रभावों, प्रतिमाओं की,
मेरे परिपूर्ण का आविर्भाव,
हृदय में रिस रहे ज्ञान का तनाव वह,
आत्मा की प्रतिमा।'

कविता का नायक एक हारा हुआ, कमज़ोर व्यक्ति का आभास देता है जो स्वयं अपनी कमज़ोरियों से नही उबरना चाहता या उसमें इतना बल या सामर्थ्य नहीं है। एक तरह से न चाहते हुए भी वह परिस्थितियों को स्वीकार कर चुका है। जैसा कि कविता के दूसरे खंड में कवि लिखता है–

'परन्तु, भयानक खड्डे के अँधेरे में आहत और क्षत विक्षत

मैं पड़ा हुआ हूँ
शक्ति ही नहीं है कि उठ सकूं ज़रा भी
(यह भी तो सही है कि कमज़ोरियों से लगाव है मुझको)'

जिस कालखण्ड में यह कविता लिखी गयी है, शायद उस दौर के हालात और कवि के खुद के आर्थिक, मानसिक हालात मिलाकर इस कविता का तानाबाना बुना गया लगता है। इस अजीब से दृश्य को पढ़कर पाठक अपना मानस नहीं बना पाता कि यह कविता किस ओर ले जा रही है। इस दृश्य से पाठक अपनी स्वयं की मन:स्थिति और वैचारिक प्रक्रिया के माध्यम से अनेक अर्थ निकाल कर व्याख्या कर सकता है। बाद के खण्डों में कवि स्वप्न दृश्यों को आगे बढाते हुए फ़ंतासी के माध्यम से उसे विस्तार देता है। यह विस्तार बहुत व्यापक और अनेक स्तरों पर घटित होता जाता है। अँधेरा निरन्तर कायम रहता है। नायक की हताशा, निराशा, दिमाग़ में चलती उथल–पुथल और देश और समाज में व्याप्त विडम्बनाओं और खोखलेपन को आगे के खण्डों में समाहित किया गया है। कविता के अनेक शब्दों का मर्म समझकर कवि के विचारों का सिरा पकड़ा जा सकता है। (हाँलाकि यह भी उतना ही सत्य कि जितनी बार सिरा पकड़ो, उतनी ही बार हाथों से छूटता है) जैसे सिविल लाइन का कमरा, प्रोसेशन का सम्पूर्ण दृश्य, तिलक की मूर्ति की नाक से बहता रक्त, गांधी जी का नायक को एक शिशु देना, शिशु का सूरजमुखी का फूल बन जाना, बंदूकें, संगीनें, तलघर के अन्दर छुपा प्रिंटिंग प्रेस आदि शब्दों और बिम्बों का एक सूत्र पकड़कर इस लम्बी कविता का रास्ता तय किया जा सकता है। कहीं कहीं एक पंक्ति कितना कुछ कह जाती है–

'तलघर अन्दर छिपे हुए प्रिंटिंग प्रेस को खोजो
जहाँ कि चुपचाप ख़यालों के परचे
छपते रहते हैं, बाँटे जाते

इस संस्था के सेक्रेटरी को खोज निकालो
शायद उसी का नाम आस्था हो
कहाँ है सरगना इस टुकड़ी का
कहाँ है आत्मा?'

सहज ही समझ में आने वाली पंक्तियाँ किस ओर इशारा करती हैं, यह स्पष्ट हो जाता है। इसके पश्चात् आने वाले खण्डों में नगर में उठता धुआँ, खाकी कसे हुए पथरीले चेहरे, साहित्यकारों, कलाकारों, चिन्तकों की चुप्पी एक समूचे राष्ट्रीय परिदृश्य की परतें खोल देती है। तत्कालीन फ़िज़ा में घुली बेचैनी, हताशा, अस्थिरता को स्वप्न की एक शृंखला के माध्यम से दृश्यमान करते हुए कवि का स्वप्न भंग होता है और दुबारा कवि अपने निज की ओर लौटता है। दुखित हृदय, वेदना से भरा हुआ, उस स्वप्नों के अर्थ समझता हुआ। जबकि यह भी एक स्वप्न ही है। स्वप्न के भीतर स्वप्न। मस्तिष्क की एक वैचारिक परत के भीतर एक और परत। स्वप्न में ही एक क्षण के लिए नायक प्रेम की अनुभूति करता है। अन्त में पुन: उसी रहस्यमयी व्यक्ति का दिखायी देना, किन्तु इस बार फटेहाल रूप में। परम अभिव्यक्ति जो पहले खण्ड में तेज़ से भरा हुआ, गौरवर्ण और सौम्य मुख है, वही अन्तिम खण्ड में फटेहाल है। सम्भवत: यह उस युग के अन्धकार में पड़े हुए पीड़ित व्यक्ति की अभिव्यक्ति है इसीलिए परम ज्ञानवान होने पर भी फटेहाल है। प्रथम खण्ड से उस अभिव्यक्ति की जारी हुई खोज अन्त तक जारी रहती है।

यह कविता हिन्दी की जटिलतम कविताओं में से एक है। जिसकी भाषा, विन्यास, एकाएक दृश्य परिवर्तन कई संशय पैदा करते हैं। कवि ठीक–ठीक क्या कहना चाहता है, यह अनुमान लगा पाना दुष्कर हो जाता है। कहीं कहीं पिछली पंक्तियों का अगली पंक्तियों से कोई तारतम्य मिला पाना बहुत कठिन हो जाता है। प्रतीत होता है मानो कवि ने अपने अवचेतन मन में चल रहे द्वन्द को ज्यों का त्यों बिना किसी शृंखला के काग़ज़ पर उतार दिया हो। मुक्तिबोध ने इसमें करुणा, व्यंग्य, उपहास, वेदना, कल्पना, जुगुप्सा सभी तत्वों का समावेश भरपूर किया है। जहाँ इस कविता में क्लिष्ट हिन्दी शब्दों का उपयोग है वहीं दूसरी तरफ सामान्य प्रचलित हिन्दी और अँग्रेज़ी शब्द तथा साधारण बोलचाल की भाषा भी बीच–बीच में आती है मानो आधी नींद में उठकर कोई अपनी भाषा में अपनी बात कहता हो। घायल, अर्धचेतन देश में क्रान्ति की उम्मीद लिए एक व्यथित नायक के अवचेतन मन के विचारों को सपनों के ज़रिये दिखाती हुई यह कविता है, जो खुद घायल आत्मा लिए बैठा है और लगभग असहाय अवस्था में है। अपनी खुद की अभिव्यक्ति खोजता फिरता, असलियत को समझाता, उससे घृणा करता किन्तु खुद को अँधेरे गड्ढे से बाहर निकालने में अक्षम पाता हुआ।

हालांकि इस कविता को जितनी बार पढ़ो और इसकी जितनी व्याख्याएँ पढ़ो, उतनी ही बार इसके नए आयाम खुलते हैं। दुबारा नए कोण से इन पंक्तियों और बिम्बों पर विचार करने का एक नया सूत्र हाथ लगता है। यह अपनी तरह की एक अनूठी कविता है। मन में चलते द्वन्द को उसी उलझाव भरे शब्दों के माध्यम से प्रस्तुत करती हुई। हम इसे पूरी तरह से समझ पायें या न समझ पायें किन्तु एक बात अवश्य है कि यह हर बार पढ़ने पर एक नयी दृष्टि देती है।

विपिन चौधरी

मुक्तिबोध के समय के युवाओं ने ऐसा जीवन जिया जैसे वे किसी फ़िल्म के साथ अपना सफ़र तय कर रहे हों, पहला भाग, जिसमें अथाह संघर्ष और कभी न ख़त्म होने वाली पीड़ा शामिल है, लेकिन इस दौरान उम्मीद की चाह में इन युवाओं के संघर्ष का चेहरा नीला नहीं उजला नारंगी रंग का था। दूसरा समय था इण्टरवेल का जिसमें ख़ूब मस्ती और खान–पान हुआ लेकिन यह अवधि थोड़ी सी ही थी आज़ादी की फिर दूसरे हिस्से में कई तरह के दाँव–पेंच, उठापटक और मोहभंग यही वह समय था जब भीतर–बाहर सब चटकने लगा था।

आज़ादी के बाद धीरे–धीरे लोकतन्त्र के सुन्दर चेहरे पर झुर्रियाँ पड़ने लगी, समय से पहले आये बुढ़ापे ने सबको तोड़ दिया, पूर्व में देखे गये स्वप्न भंग का सिलसिला उत्तरोत्तर बढ़ता गया। इसी की बात 'अँधेरे में' कविता करती हैं मुक्तिबोध जी अपनी फैंटसी शैली में, जीवन को हाँट करता हुआ पीलापन और टूटने की आवाज़ पाठकों को देर तक माँजती है, कविता में शिल्पगत मँजाव न जाने कितने ही गिरहों को खोलता है। 'अँधेरे में' का खनिज इंसान से तात्कालिक ज़िंदगी से होता हुआ समूचे समाज को अपनी ग़िरफ्त में ले लेता है। हम सब जानते हैं कि छायावादी अमूर्तता के नये संकेतों को मुक्तिबोध ने पकड़ लिया था, अपनी लेखन शैली में वे जीवन की निस्सारता को अपने क़रीब बिठा लिया करते हैं, इस्थेटिक की खोज के प्रति वे शुरू से ही सेंसेटिव थे यह खोज बाद के दिनों में काफ़ी घनी होती गयी। अँधेरे में वह दिखती है।

अँधेरे में, ध्वंसावशेषों और पुरातत्वों में मनुष्य की बेहतर समाज की इमेज को खोजती है, विद्रोह जो जीवन–सा स्पष्ट और उजागर चिह्न है उसके आसपास घूमती है अँधेरे की कविता की समय की बड़ी सुई।

जीवन के भीतरी दबावों की रिफ्लेक्शन बार–बार हमें बाहर दिखती हैं, हर बार बाहर की चमक जब भीतर प्रविष्ट होती है तो नयी बेचैनी लाती हैं। भीतर के घेरे के अँधेरे कोने में बस जाती है कई आकृतियाँ विभाजित होकर। अपने–अपने कोने के अँधेरे आपस में टकराते हैं इस तरह भीतर की शान्त तस्वीर बाहर के परिदृश्य से अधिक डरावनी दिखती है।

तभी मुक्तिबोध कहते हैं,

'इतने में अकस्मात् गिरते हैं भीतर से
फूले हुए पलिस्तर,
खिरती है चूने–भरी रेत
खिसकती हैं पपड़ियाँ इस तरह।'

खुद–ब–खुद दिमाग़ अपनी जटिल संरचना में कई विचार बनाता है तस्वीरों की शक्ल में, प्रकृति का रहस्य और मानव के भीतर रहस्य दोनों एक ऐसे संसार की संरचना करते हैं जो कवि का अपना संसार है। जाहिर है कवि की इस निर्माण की प्रक्रियाँ में कई पूर्वरचित आकार ध्वस्त हुए होंगे। उसने कितनी ही नयी अभिव्यक्तियों को चेहरा दिया होगा।

मगर फिर भी कुछ छूट गया होगा। अपनी तमाम कमज़ोरियों को समेटता–सराहता जीवन उसी समाज में जो अचानक से भला बन कर कर्मकाण्ड करने लगता है, मानव सेवा का प्रपंच रचता है अब सरकारों को पता चल गया है कि जनता की नब्ज़ कैसे पकड़ें, कैसे बीमार समाज को खुद ही अपना दुश्मन बना कर उसे और भी अवसाद में डाल दे और फिर अपना जीवन आलोक में जिये।

अँधेरे में का अँधेरा नया अँधेरा नहीं है यह सदियों से एकत्र हुआ अँधेरा है जिसे हर नयी पीढ़ी को ढोना है, संवेदनशील कवि को यह अँधेरा अधिक सालता है आज यही सब हो रहा है बाहर इतना अँधेरा है इसमें मक्कारों की चालबाजियाँ अधिक साफ़ हो कर दिख रही हैं अँधेरे में उनके नुकीले दांत साफ़ दिखायी देते हैं। चारों और चीख़–पुकार, धक्का–मुक्की, अफरातफरी के बीच यह उद्घोष की आप अच्छे दिनों की जद में हो जनता समझ नहीं पा रही कौन हैं जिसे अच्छे दिन दिख रहे हैं कहीं यह गुलामी के दिनों में आज़ादी के सपने देखने की कामना जैसा ही कुछ मामला तो नहीं? इतिहास कहीं यहाँ खुद को ही दोहराने के फेर में ही तो नहीं? अँधेरे में के आईने में आधुनिक समय इतना साफ़ दिखता है कि हम सब जितना भी उसे पढ़ते हैं समय के और क़रीब पाते हैं स्वयं को।

गीत चतुर्वेदी

लम्बी कविता 'अंधेरे में' को मुक्तिबोध की प्रतिनिधि कविता माना जाता है जिसमें उनके काव्य का समूचा वैभव मिल जाता है। इस कविता पर संक्षेप में बात करना ग़लत समझ लिए जाने के ख़तरों को अपनी ओर बुलाने जैसा है, क्योंकि इसका प्राथमिक शिल्प ही मनुष्य के अन्तर्मन की कल्पना का मानचित्र है और हम सभी जानते हैं कि उस मन के भीतर एक भूलभुलैया होती है, जिसके भीतर उस मन का मालिक खुद कवि भी बार–बार खो सकता है, मुझ जैसे साधारण पाठक का क्या।

लेकिन उस कविता के आधार पर मुक्तिबोध के पूरे रचनाकर्म का एक अलग ही पहलू दिखायी देता है, और इस संक्षिप्त निबन्ध में मेरा संकेत उस ओर है। यह मुक्तिबोध के भीतर बसा हुआ विचारधारा व डिज़ाइन का द्वैत है। दोनों को एक साथ प्रयोग कर वह एक महान रचनात्मक अद्वैत प्रस्तुत करते हैं।

मुक्तिबोध संभवत: काफ्का को ज़्यादा पसन्द नहीं करते थे। उनके हिसाब से काफ्का अस्तित्ववादी भूलभुलैयाओं में भटकते अणु–खण्ड थे। हालांकि, मुक्तिबोध चाहते रहे हों या न चाहते रहे हों, इतने बरसों बाद यह भी एकदम स्पष्ट है कि हिन्दी में अगर काफ्का का कोई बौद्धिक सहोदर है, तो वह सिर्फ़ मुक्तिबोध हैं। दोनों के पास एक जैसे व्यूह हैं। काफ्का में दु:स्वप्न का संत्रास व्यूहात्मक है, तो मुक्तिबोध में दु:स्वप्न की परिणति व्यूहात्मक है। आप जिसे नापसन्द करते हैं, धीरे–धीरे उसके जैसे भी होते जाते हैं– क्या यह बात सच है?

मुक्तिबोध में अस्तित्ववादी तत्वों की पर्याप्त विवेचना हो चुकी है। चूंकि हिन्दी में, आज दिनांक तक, अस्तित्ववाद को हेय दृष्टि से देखा जाता है, खुद मुक्तिबोध भी अपने लिखे में कई जगहों पर इसके प्रति अरुचि दर्शा चुके थे, इसलिए भी सम्भवत:, हिन्दी आलोचना के एक दूसरे प्रभावशाली तबक़े ने उनमें अस्तित्ववादी प्रवाहों की स्थापनाओं का खण्डन किया। इस आरोपण और खण्डन का जितना रिश्ता मुक्तिबोध की कविताओं से नहीं है, उससे ज़्यादा हिन्दी की विचारधारात्मक खेमेबंदियों, अहं–युद्ध, नायक–निर्माण, नायक–भेद, नायक–ध्वंस से है। जो मुक्तिबोध अपने गद्य में खुद को व्यक्तिवादी स्वभाव का कहते रहे, उनकी कविताओं में ज़ाहिरा तौर पर मौजूद व्यक्तिवादी तत्वों तक को न देखने की कोशिश की गयी। जो पंक्तियाँ साफ़–साफ़ अस्तित्ववादी दु:स्वप्नों व आत्मपीड़न की घोषणा थीं, उन्हें वैसा मानने से इंकार कर दिया गया।

मुक्तिबोध कोई साधारण बौद्धिकता नहीं थे। वह जीवन, अध्ययन, संघर्ष, संत्रास, उम्मीद, राजनीति, अकेलापन, जिया हुआ अनुभव, पढ़ा हुआ अनुभव, विचारा गया अनुभव, आशंका, दु:स्वप्न, स्वप्न–भंग, चुनौती और निराशा से बना हुआ एक व्यूह थे। व्यूह–सामग्री में और इज़ाफ़ा गिनाया जा सकता है, किन्तु यह स्पष्टत: कहा जा सकता है कि वह एक चीज़ तो क़तई नहीं थे, और वह है– एकांगिता। मुक्तिबोध कहीं से एकांगी नहीं। वह जितना राजनीति–दृष्टिसम्पन्न–मुखर थे, उतना ही कलात्मक–नावीन्य–जागरूक भी। जितना वह मार्क्सनवाद के भीतर थे, उतना ही अस्तित्ववाद के भीतर भी। समस्या इसी वाक्य से शुरू होती है। मार्क्सवादी आलोचना के प्रभावशाली तबक़े को यह मंजूर नहीं था कि वह मुक्तिबोध को अस्तित्ववादी माने। सम्भवत: ऐसा करने से उसकी राजनीति प्रभावित हो जाती। आलोचना की वह पद्धति राजनीति को सर्वोपरि मानती है, साहित्य को द्वितीयक। इसलिए वह साहित्य की मीमांसा–व्याख्या में झोल करना चुन सकती है, राजनीतिक रूप से ग़लत होने (पॉलिटिकली इनकरेक्ट) होने का जोख़िम लेना नहीं चुन पाती। साहित्यिक इतिहास में हमने इसके कई उदाहरण देखे हैं।

यह पूरी समस्या खड़ी ही सिर्फ़ इसलिए होती है कि मार्क्सवाद और अस्तित्ववाद को आमने–सामने खड़ा कर दिया जाता है, गोया दोनों में मल्ल–आयोजन हो। साहित्य के भीतर हर दृष्टिकोण के पीछे एक राजनीति होती है, और उसके प्रगटीकरण का ठेका आलोचना ले लेती है, जबकि खुद लेखक भी कई बार यह नहीं बता सकता कि आखिर वह कौन–सी राजनीति थी, जिसके कारण उसने वह दृष्टिकोण अपनाया। अस्तित्ववाद भी ऐसा ही एक दृष्टिकोण था, जिसके पीछे किसकी क्या राजनीति होगी, इतने बरसों बाद कहना मुश्किल है, लेकिन कम से कम यह ज़रूर कहा जा सकता है कि अस्तित्ववाद कोई विचारधारा नहीं थी, कोई राजनीतिक दर्शन नहीं था। यह कई सारे दृष्टिकोणों का एक समुच्चय था। हम–आप चाहें, तो उसमें अपने दृष्टिकोण जोड़ सकते हैं, अस्तित्ववाद को उससे कोई नुक़सान नहीं पहुँचेगा, बल्कि उसका विस्तार हो जायेगा। (कुछ यही मामला इन दिनों उत्तर–आधुनिकता का भी है।)

जब यह विचारधारा और दर्शन नहीं है, तो क्या है? यह महज़ एक पैटर्न है, एक डिज़ाइन है। यदि यह दर्शन है, तो खुद नीत्शे और किर्केगार्द भी पूरी तरह अस्तित्ववादी नहीं हैं। अगर यह राजनीतिक विचारधारा होता, तो दुनिया के किसी न किसी देश में अस्तित्ववादी सरकार बनाने का आन्दोलन अवश्य चल रहा होता और किर्केगार्द, दोस्तोएव्स्की, सार्त्र, कामू सभी का अस्तित्ववाद एक जैसा ही होता, एक ही जगह जाकर गिरता और उनमें महज़ कुछ लाक्षणिक अन्तर ही होते, परन्तु इन चारों में तो बहुत फ़र्क़ है। काफ्का को अस्तित्ववादी कहा गया, लेकिन उनका यह तथाकथित अस्तित्ववाद ऐसा निकला कि खुद अस्तित्ववाद को लाँघकर अपने लिए 'काफ्काएस्क' जैसा एकल विशेषण लेता आया। अस्तित्ववाद एक ऐसी डिज़ाइन थी, जिसके पीछे कोई

दार्शनिक फोर्स भी काम नहीं करता। यह ऐसी डिज़ाइन थी, जिसका सभी ने अपनी–अपनी तरह से प्रयोग किया। मुक्तिबोध ने भी किया।

मुक्तिबोध ने कुछेक बार कहा है कि हर कलाकार के भीतर सौन्दर्य का एक पैटर्न होता है, और वह उसी के आसपास चलता है, जानते–अनजानते। मुक्तिबोध ने अपनी सन् ४७–४८ के बाद की कविताओं में इसी पैटर्न को अपनाया, जानते–अनजानते। अस्तित्ववाद उनका पैटर्न है, मार्क्सवादी दृष्टि से उनका कंटेंट बनता है।

दुनिया में किसी बड़े मार्क्सवादी कवि ने अस्तित्ववादी पैटर्न का प्रयोग करने की हिम्मत नहीं दिखायी। अगर किसी ने इस तरफ़ सोचा होगा, तो वह समझ गया होगा कि ऐसा करना ख़तरे से ख़ाली नहीं, या तो उसकी मार्क्सवादी प्रतिबद्धता ख़तरे में पड़ जायेगी या फिर वह दोनों 'विपरीत–ध्रुवी अनुकूलनता' से तालमेल नहीं बिठा पायेगा, मार्क्सवादी जीवनदृष्टि/काव्यदृष्टि, अस्तितत्वादी जीवनशैली/काव्यशैली से डैमेज हो जायेगी। हिन्दी में ही मुक्तिबोध के बाद किसी अन्य कवि के पास वैसा दुस्साहस नहीं आ पाया, जबकि मुक्तिबोध ने रास्ता खोल दिया था।

और यही उनके द्वारा उठाया गया अभिव्यक्ति का सबसे बड़ा ख़तरा है।

सन्तोष कुमार चतुर्वेदी

आज़ादी के बाद के भारत के अध्ययन के लिए मुक्तिबोध का साहित्य खासतौर पर उनकी लम्बी कवितायें एक अपरिहार्यता की तरह है। इसके बिना किया गया कोई भी अध्ययन आधा–अधूरा ही साबित होगा। ध्यातव्य है कि मुक्तिबोध अपनी महत्वपूर्ण कविता 'अँधेरे में' का अन्तिम प्रारूप १९६२ में तैयार करते हैं। 'अँधेरे में' सिर्फ़ लम्बी कविता ही नहीं बल्कि आज़ादी के बाद के मोहभंग की महागाथा भी है। साथ ही इस कविता से लोकतन्त्र का वह छद्म भी सामने आता है जो नेताओं, नौकरशाहों और पूंजीपतियों की मिलीभगत से पालित–पोषित होता है और अपने मूल स्वरूप में सामन्ती बने रहता है। जैसे–जैसे समय बीता वैसे–वैसे हम पीछे ही गये हैं। जातिवाद, साम्प्रदायिकतावाद, क्षेत्रवाद और रूढ़ हुआ है। आधुनिक दिखने का प्रयत्न करने वाले हम भारतीय सही कहें तो मध्यकालिक भी नहीं हो पाये हैं। अंर्स्ट फिशर ने अपनी किताब 'मार्क्स इन हिज़ ओन वर्ड्स' में यह बताते हैं कि मार्क्स ताज़िन्दगी परिपूर्ण मनुष्यता का स्वप्न देखते रहे और उसी स्वप्न को साकार करने में लगे रहे। मुक्तिबोध अपनी 'अँधेरे में' कविता में यही स्वप्न देखते–दिखाते नज़र आते हैं।

रसूल हमजातोव ने अपनी किताब 'मेरा दागिस्तान' में एक जगह लिखा है द्ध 'यह मत कहो कि मुझे विषय दो, यह कहो कि मुझे आँखें दो।' मुक्तिबोध के पास भी विसंगतियों को देखने–महसूसने वाली सजग–सतर्क आँख है जो उसे कविता में जस का तस दर्ज करती है।

आस–पास आती हुई घहराती गूँजती/ किसी रेलगाड़ी के पहियों की आवाज़!!/ किसी अनपेक्षित असम्भव घटना का भयानक सन्देह/ अचेतन प्रतीक्षा/ कहीं कोई रेल–एक्सीडेंट न हो जाय/ चिन्ता के गणित–अंक/

आसमानी सलेट–पट्टी पर चमकते/ खिड़की से दिखते।' आज भी चिन्ता के गणित अंक कम नहीं हुए हैं बल्कि वे कई गुना बढ़ गये हैं। 'अँधेरे में' कविता की कई पंक्तियाँ ऐसी हैं जिनसे हम रोज़ाना हू ब हू दो–चार होते हैं। आज भी हम देखते हैं कि 'शहर का हत्यारा कुख्यात/ डोमा जी उस्ताद/ बनता है बलबन'। गुजरात और गोधरा के दंगे और मोदी के प्रधानमन्त्री बनने के पश्चात् जैसे सब कुछ हक़ीक़त में तब्दील होता जा रहा है। स्थितियाँ अब ऐसी बन गयी हैं कि कुत्ते ही जोर–शोर से दावा करने लगे हैं कि वही एक मात्र ऐसे हैं जो चमड़े के घर की रखवाली करने का हुनर जानते हैं। दिक़्क़त यह है कि इस जुलूस में वे भी हैं जो हमारे अपने बनने का दावा करते हैं। कवि, प्रकाण्ड आलोचक, विचारक और विद्वान तक इसमें शामिल हैं। ध्यातव्य है कि यह बुद्धिजीवी वर्ग है, इनसे न्याय के पक्ष में खड़े होने की अपेक्षा की जाती है। लेकिन सब अब सुविधाभोगी हैं। सत्ता के पक्ष में निर्लज्ज चाटुकारिता कर रहे हैं। लोकतन्त्र का चौथा स्तम्भ होने का दावा करने वाली मीडिया की भी आज वही स्थिति है। जनता के सामने यक्ष प्रश्न है कि वह कहाँ जाय, क्या करे? तुलसी दास याद आते हैं दृ 'खेती न किसान को, भिखारी को न भीख बलि/ बनिक को बनिज न, चाकर को चाकरी/ जीविकाविहीन लोग, सीद्यमान सोच बस/ कहैं एक एकन सो दृ कहाँ जाईं का करीं।' मुक्तिबोध एक बेहतर दुनिया चाहते थे। वह दुनिया जिसमें समाज का अन्तिम व्यक्ति भी अपने व्यक्तित्व की गरिमा के साथ जी सके और रह सके। गोरख पाण्डेय अपनी कविता में जैसे मुक्तिबोध के स्वर को रेखांकित करते हुए कहते हैं दृ 'ये आँखें हैं तुम्हारी/ या तकलीफ़ का उमड़ता हुआ समंदर/ इस दुनिया को जितनी जल्दी हो/ बदल देना चाहिए।' मुक्तिबोध यही तो चाहते थे।

इसमें कोई दो राय नहीं कि मुक्तिबोध के समय के अँधेरे से हमारे आज का अँधेरा और घना हुआ है। वीरेन डंगवाल के शब्दों में कहें तो 'जो चमक रहा/ शर्तिया काला है'। यह वह चमक है जो खाये अघाये वर्ग के चेहरे पर दिप–दिप दिख रही है। यह चमक उस आम आदमी के हिस्से की है जिसे साजिश कर उससे जबरिया छीन लिया गया है और उसे 'अँधेरे में' अभिशप्त जीने के लिए छोड़ दिया गया है। ऐसे में 'अँधेरे में' कविता आज भी एक प्रस्थान बिन्दु के रूप में बनी हुई है। यही उसकी प्रासंगिकता और सार्थकता है।

ज़िंदगीनामा

नीलोत्पल

कृष्णा सोबती जी के उपन्यास 'ज़िंदगीनामा' पर कुछ बातें –

पंजाब पिण्ड के एक गाँव की पृष्ठभूमि पर आधारित इस उपन्यास का हर शब्द, पिण्ड की मिट्टी की तरह धड़कता है। ढेरों लोगों के असाधारण संघर्ष से बुना यह उपन्यास दुनिया का वृहत्तर आईना है। जहां दैनन्दिनी से जुड़ी हर बात अपने समय का विरल आख्यान प्रस्तुत करती है।

आरम्भ कविता के साधारण शिल्प में गूँथा हुआ, पिण्ड की अमर कथा कहता है। पाँच दरिया वाला पंजाब, जेहलम और चिनाब वाला पंजाब। पिण्ड की अस्मिता और उसका सौन्दर्य प्राणपन से झलकता है।

पौराणिक कथाओं में जीवन के कितने सार और उत्पत्तियाँ छिपी होती है, कृष्णा जी ने ज़िंदगीनामा में इनका बखूबी उपयोग किया है। चाँद के अहाते से वे लिखती हैं– 'जो मनुष्य अकेला है वही इसे साथी मान लेता है।'

एक लेखक वह विस्मृत समय लेकर आता है जो खो गया है या जो धीरे–धीरे भुला दिया जायेगा। इन्हीं के आसपास कथानक को बुना गया है।

पंजाबी सूक्तियों, प्रचलित लोकगीतों को अर्थपूर्ण ढंग से उपन्यास में लिया है। देखें–

चाची महरी– 'रब्ब रख्या करे तो आशिक़ी परवान चढ़ें'

मिहंदी हँसते हुए पूछती है– प्रीत–प्यार के क़िस्सों में रब्ब का क्या जोड़?

इस बात का जिस सार्थक ढंग से जवाब दिया है वह इस उपन्यास की प्राण–शक्ति है।

बाबो– 'जो आँख वक़्त से लड़ेगी वह अल्लाह के फ़ज़ल से तोड़ भी जा चढ़ेगी।'

लोगों की भीड़ में यह वाक्य इसलिए भी अवाक् करता है कि यह भरपूर उम्मीद और संघर्ष का प्रतीक है। और यहाँ लोक मान्यताओं की उपस्थिति भी देखने को मिलती है। यह इतनी सहजता से प्रविष्ट होती है कि हम उसे सच मान लेते हैं। कई बार यह संकेत हमें निर्दिष्ट करते हैं।

एक पात्र की जुबानी– 'सच मानना शाहनी तड़के कनाली में आटा डाला तो टुकड़ी भर बाहर जा गिरा। दिल में आया ज़रूर कोई पराहुना चला आया है! सदके तुम्हारी आमद पर।'

लोकोत्तर जीवन में ऐसे प्रयोग जीवन को और क़रीब लाते है।

पात्रों की अधिकता उपन्यास की संरचना को थोड़ा जटिल ज़रूर बनाते हैं लेकिन यह वृहद संसार इसी तरह रचा और बुना जाता है। यहाँ धागों की तरह पात्र एक–दूसरे में इस क़दर गूँथे है कि उधड़ी सिवानों में भी एक सुन्दर, सघन जीवन–जगत नज़र आता है। रीति–रिवाज़ों, रिश्ते–नाते, जीवन–उद्यम संवादों का चुटीलापन इस तरह शामिल है, एकमेक है कि पूरा पिण्ड उतर आया है।

ज़िंदगी वहाँ भी होती है जहाँ हम नहीं जा पाते। कई बार आसपास से गुज़रते हैं और उसे छू नहीं पाते। यह क़रीब–क़रीब के अहसास और छूटने–भूलने की हमारी दैनिक प्रज्ञा कितनी मासूम होती है, कि वह अछूता संसार हमारी स्मृतियों का अभिन्न हिस्सा बन तो जाता है लेकिन उसी मासूमियत से भुला भी दिया जाता है। एक लेखक वही समय, वही लोग, वही जगह फिर से क्रिएट करता है। लेकिन यह जादुई बुनकरी बहुत कम लेखक हासिल कर पाते है। कृष्णा सोबती जी ने बहुत बारीकी से इस उपन्यास को गढ़ा है। ऐसी कहानी जो कई सारी कहानियों का अनन्तिम समावेश है। जिसमें देशकाल, पिण्ड, खेतिहर किसानों की पीड़ा, उससे जुड़े संघर्ष, दैनिक जीवन की व्यावहारिक दिक़्क़त और परेशानियाँ, इस तरह समावेशी है कि यह जगत–व्यापार निरन्तर चलता रहता है, तमाम असुविधाओं के चलते।

'ज़िंदगीनामा' का शिल्प–विधान घरों, राहों, तख़्तों, और इतिहास में चल रहे संवादों से रचा है। बादशाहों की तक़रीरें, संत और मज़ारों का रुख़ है, मियां मीर और छज्जु भगत की दोस्ती की मिसालें है जहाँ किसी कौम की नहीं दो दोस्तों की बात है।..

'दूध मक्खन की तरह दिल के दर्पण में भी बाल आ जाये तो ख़्याल मैला हो जाता है।'
दोस्ती के ऐसे पाक फलसफें हैं।

आम ज़िंदगी में घुला कवित्त है तो बुल्लेशाह का बारहमासा भी यहाँ सरमाया है –

'फागुन फुले खेत ज्यों बन तन फूल शृंगार
होर डाली फुल्ल पत्तियाँ गल फूलन के हार
होरी खेल्न संइयाँ फागुन मेरे नैन

झलारों वग्गन
औखे जीवंदिया दिन तग्गन सीने बान
प्रेम के लग्गन
चेत चमन में कोयलिया नित कू–कू
करे पुकार
मैं सुन–सुन झुर–झुर मर रही
कब आवे घर यार।'

अन्त में, उपन्यास में कहानी ढूँढने के बजाय और पात्रों और उनके संवादों जीवन को देखना–समझना ज़रूरी है। ये वही लोग हैं जो हमारे आसपास की ज़िंदगी को पूरा करते हैं उसे निरन्तर गतिशील बनाते हैं। बरक्स 'ज़िंदगीनामा' इस संसार से संवाद ज़रूरी है, बहरहाल, हरहमेश।

समर्थ वशिष्ठ

'ज़िंदगीनामा' से मेरा परिचय बहुत पहले से हो गया था। माँ हिन्दी में एम.ए. कर रही थी और उनकी बिखरी किताबों को मैं अक्सर–कई दफ़ा छुपकर–पढ़ा करता था। उन किताबों में 'ज़िंदगीनामा' भी थी। तब पहली बार और अब क़ायदे से इससे दोबारा गुज़रते हुए सबसे पहले भाषा के स्तर पर इस उपन्यास ने मुझे आकर्षित किया। पंजाबी सुनता–बोलता मैं बड़ा हुआ, सो इसमें प्रयुक्त बहुत से पंजाबी मूल के शब्द मुझे पढ़ते हुए कठिन नहीं लगे। पंजाबी भाषा से इतना राब्ता न रखने वाले पाठकों के साथ ऐसा शायद न हो।

इस उपन्यास को आज के सन्दर्भ में देखते हुए इस बात का ज़िक्र कर देना उचित लगता है कि इसमें दर्शाये गये काल को गुज़रे अब सौ साल से ऊपर गुज़र चुके हैं। जिस समय में 'ज़िंदगीनामा' स्थित है तब बंगाल का विभाजन हो चुका है। पंजाब अभी भी अविभाजित और विराट है– इतना कि क़ाबुल भी कुछ हाथ की दूरी पर ही मालूम होता है। ये समीपता भौगोलिक या तकनीकी से ज़्यादा राजनैतिक है। बंगाल के विभाजन के बाद पंजाब अविभाजित रहेगा या नहीं, ऐसी आशंकाएं उपन्यास में घुमड़ती दिखायी देती हैं– कुछ अविश्वसनीय–सी दूरी पर। स्वराज और स्वतन्त्रता ऐसे सरोकार हैं जो सांकेतिक स्तर पर मौजूद हैं पर बहुत मूर्त रूप में नहीं। सार्वभौम मुद्दे इस उपन्यास में पात्रों की एक पूरी ''एन्सेंबल कॉस्ट'' के रोज़मर्रा के संघर्षों के ज़रिये ज़ाहिर होते हैं। यही इस उपन्यास की खासियत है। कथा के स्तर पर ये सोची–समझी बिखराहट इसे बोझिल नहीं होने देती।

कथा से अलग मेरे लिए इस उपन्यास का दस्तावेज़ी पक्ष भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। सांझे पंजाब के गीतों–लोकगीतों की विरासत इसमें बड़ी शिद्दत से सँजोयी गयी है। इसमें दर्ज पंजाबी भाषा हमारी गंगा–जमुनी तहज़ीब की गवाही देती है। ''ज़ालिम तल्ख़'' जैसे प्रयोग मुझे नहीं लगता हमारे तरफ़ की पंजाबी में अब बचे हैं। ये भी देखें:

''बेटे सोचकर बताओ। जब से मदरसे गये हो, तुम्हें कितनी बार कुट्ट पड़ी है!

लाली ने उँगलियों पर गिनती कर डाली– "चाचा साहिब, मुझे पांच बार मार पड़ी है। एक बार मसालेवाला गुड़ चुगला रहा था, एक बार सक़ीना गा रहा था, एक बार मैं मोटे गुल्लू से छेड़छाड़ कर रहा था, और एक बार मौलवी जी ठौंका लगा रहे थे और गुरदास भाई हाजत को गए, मुझे अपनी जगह बिठा गए। मौलवीजी ने पूछा तो मैंने फ़ातिहा–ख़ैर को फ़ातिहाख्वानी कह दिया! उस दिन डाडी कुट्ट पड़ी।"

ऐसे दिलचस्प सन्दर्भ ठेठ पंजाबी हैं पर भाषा–तहज़ीब की दृष्टि से अब हमारे पंजाब में मुमकिन नहीं। एक आस्था–निरपेक्ष देश के लिए ये चिन्ता का विषय है। इससे अलहदा भी जिस तरह की आक्रामक पंजाबियत मीडिया और फ़िल्मों में हाल के सालों में परोसी गयी है, उसका प्रभाव कम करने के लिए कृष्णा सोबती जी के सौम्य पंजाब का सामने आना ज़रूरी है। दस्तावेज़ी स्तर पर ही रोज़मर्रा के जीवन के छोटे–छोटे वाकये, जो इस उपन्यास में हर ओर मिलते हैं, मुझे बहुत रोचक लगे। मसलन, 'ज़िंदगीनामा' में कोर्ट–कचहरी के कामकाज के कई सशक्त सन्दर्भ हैं। विधि–कानून में मेरी दिलचस्पी रही है। इन सन्दर्भों से ये ज़ाहिर होता है कि सौ साल बाद भी हमारी न्यायिक प्रकिया में जो कुछ भी बदला है, उससे कहीं ज़्यादा वहीं ठहर गया है। सोबती जी की क़ानूनी प्रकिया पर गहरी पकड़ भी इन सन्दर्भों से साफ़ ज़ाहिर होती है।

'जिंदगीनामा' के पुनर्पाठ के दौरान ही मेरे मन में अनुवाद से सम्बन्धित कई प्रश्न कौंधे। सिर्फ़ कौतुहलवश मैंने 'ज़िंदगीनामा' का अँग्रेज़ी अनुवाद अपने किंडल पर डाउनलोड कर स्पीड–रीड कर डाला। आंचलिकता में इस गहराई तक डूबी किसी रचना का अनुवाद करने के दो तरीक़े हो सकते हैं : कुछ आंचलिक सन्दर्भों को वैसा ही छोड़ दिया जाय या फिर उनके लिए अनुवाद में कोई विभाषा ढूँढी जाय। जो अँग्रेज़ी अनुवाद मैंने पढ़ा उसमें बहुत से सन्दर्भों को वैसे ही रखा गया था। इससे हालाँकि मूल पाठ से समीपता बनी रहती है, फिर भी सम्प्रेषणीयता पर प्रभाव तो पड़ता ही है। वैसे ही जैसे किसी फ्रेंच उपन्यास के हिन्दी अनुवाद में कुछ फ्रेंच शब्दों को वैसे ही रहने दिया जाय।

कुल मिलाकर, 'ज़िंदगीनामा' से दोबारा गुज़रना मेरे लिए अपनी जड़ों को कुछ बेहतर समझने का अवसर रहा। इतने वृहद कैनवास की इतनी नामी कृति के बारे में बहुत कुछ ऐसा कहना सम्भव नहीं है जो पहले न कहा जा चुका हो। इतना साफ़ है कि चन्ना के रूप में अपनी शुरुआत के लगभग ७० साल बाद भी यह उपन्यास बेहद प्रासंगिक है और इस नयी सदी में नये अर्थ धारण कर रहा है। और यही प्रासंगिकता इसके कालजयी होने की पुष्टि करती है।

शिल्पी

सहज विलक्षण लेखन और शैली की चमत्कृत करने वाली जीवन्तता कृष्णा सोबती की पहचान है और उनकी यह सम्मोहक पहचान हमारे समय की महान कृति 'ज़िंदगीनामा' के हर शब्द, हर प्रसंग में हम से रूबरू होती है। यह तो निर्विवाद है कि इस महान लेखिका को प्राप्त होकर पुरस्कार खुद सम्मानित होते हैं और निर्णायकों की सनद रह जाती है। सन्दर्भ जब 'ज़िंदगीनामा' का हो तो यही पर्याप्त नहीं है कि इसे ज़िंदादिली, अलमस्ती और जीवन से जूझते रहने की सहज कथा बताया जाय, जिसमें न तो नायक हैं और न ही खलनायक। यह कथा देश और समाज की अनेक अद्यतन उलझनों, और आतंक पर आयोजित बहसों, चौतरफ़ा दबावों से छुटकारे की आड़ में आयोजित वीरता के स्वांग के समक्ष मौजूद भारतीय समाज का ऐसा कथा–चित्र खींचती है जिसमें पाँच नदियों से सिंचित भूमि की उर्वरता के लाड और दुलार के बीच कई सभ्यताएँ पलती हैं, अलग–अलग आस्थाएँ जीती हैं, पांडव या पंचप्यारे और पंजपीर के अक़्स पलते हैं। पर जब ये आस्थाएँ आपस में ही जूझती हैं तो अपनी वीरता में प्राणों का समर्पण लेने और देने दोनों में उतनी ही उन्मत्त हैं। उपन्यास का एक प्रसंग देखें जिसमें कानूनी मसले अँग्रेज़ हाकिम के हाथ में हैं लेकिन वे चलते उतने ही हैं जितने समाज के गले उतरते हैं :

'ब्लोच पठान के भाने तो मरना–मारना राह–रस्म हुई न।'

'शाहजी बोले, 'उस इलाके में अँग्रेज़ी क़ानून चलना जरा मुश्किल है। हुआ यह कि एक ब्लोच ने किसी बंदे के साथ बीवी जा पकड़ी अपनी। बस आनन–फानन में दो कत्ल हो गए। जिरगे की मौजूदगी में मामला पेश हुआ। अँग्रेज़ी हाकम ने अपनी जानकारी और क़ानून के मुताबिक तीन साल ठोक लिए। इधर हाकम ने फ़ैसला दिया उधर हास्सा पड़ गया। अँग्रेज़ डिप्टी ने सोचा, कोई होगी मखौल की बात। चिट्ट दाढ़ियों को बुलाकर पूछा, 'माजरा क्या है?'

'उन्होंने समझाया, साहिब इस जुर्म पर तो दो या तीन दिन या जुर्माना रुपये पचास का। जनाब को यहाँ के कायदे–क़ानून धीरे–धीरे सब पता लग जायेंगे।'

इस अंश से न केवल लेखिका की भाषाई प्रांजलता और उन्मुक्तता स्पष्ट होती है बल्कि सम्प्रेषण की जीवन्तता पात्रों को हमारे सम्मुख ला खड़ा करती है। कहा जाता है कि कथ्य की सार्थकता अर्थ की स्पष्टता और सम्प्रेषण में सन्निहित होती है। भाषाई स्तर पर कृष्णा सोबती पंजाबी, राजस्थानी शब्द और खुरदरे मुहावरों से दूर तक अटे होने के साथ ही अपने मुक्त किन्तु सुडौल वर्णन के कारण साहित्य की ऐसी सफल परिभाषा गढ़ती हैं जहाँ उनकी पृथक शैली कथा के सौन्दर्य से मोहती हुई आगे बढ़ती है और अनेक प्रकार की ज़िंदगियों के साथ–साथ चलते यथार्थ के कटु, सौम्य और सम्मोहक चित्रण उसे प्रवाहमयता देते हैं।

'ज़िंदगीनामा' को पढ़ते हुए लेखिका की क़लम से उपजे कथानक को नज़र की ओट नहीं किया जा सकता। यहाँ कथा का निश्छल प्रवाह सागर की उच्छल तरंगों के समान कथानक को सौन्दर्य से जुड़ाता रहता है। अपने अध्ययन के दौरान पुस्तक के लगभग चार सौ पृष्ठों में मुझे कभी नायक या खलनायक की अनुपस्थिति का ख़ालीपन नहीं महसूस हुआ, बल्कि छोटे–बड़े, बच्चे–बूढ़े, किसान, दरवेश, लालाजी, तायाजी, जंगीलाट, बलूच, हिन्दी फ़ौज के जवान, अँग्रेज़ अफ़सर, शाहनी, भोली, शहजादी–सी ख़ूबसूरत फतेह, मियां अल्लारक्खा, बेबेजी इत्यादि के रूप में इतने सारे नायक–नायिकाओं से भेंट हुई कि खलनायकी का असल रूप भी सामने आ गया। वही परिस्थिति और देशकाल एक की नायकी को दूसरे के लिए खलनायकी बना देते हैं। 'ज़िंदगीनामा' की कहानी इंसानों को ही नहीं क्षितिज, आकाश, आग और पानी को भी कथा के आंचल में ऐसे समेटती है कि अग्नि की उत्पत्ति सुनहले जल से होती है, सुन्दर पवित्र जल से। सूरज और चाँद, अग्नि और शीतलता के चरम स्रोत एक ही माँ के दो लाडले हैं। ये बातें कहानी के नन्हें नायकों को सिर्फ़ क़िस्सों की तरह सुनाई नहीं जातीं बल्कि समय की विरासत के रूप में यह भी बताती हैं कि दिन और रात जितने सच्चे–झूठे हैं उतना ही सहज नज़दीकी सम्बन्ध अग्नि और शीतलता का भी आपस में है। कहानी का एक अंश देखें :

'पुत्रो, ध्यान से सुनो। अगनकुमार सूरज वड्डे का धोत्रा और समुद्रों का पोत्रा।'

'जल का पुत्तर अगनकुमार कैसे हुआ लालाजी?'

'अगनकुमार का पिता अंतरिक्ष और समुद्रों का स्वामी। सो जब जन्मा न अगनकुमार तो नद–नदियाँ बह–बह निकलें। पुत्तरजी, यह अगनकुमार सब देवताओं का सारथी है। और यही अग्नि और यज्ञ का पिता भी।'

'पर जी अग्नि कहाँ से उपजी?'

'पुत्रो, अग्नि की उत्पत्ति सुनहले जल से हुई। सोने जैसे रंग वाले सुथरे पवित्र जल से।'

'भाई को कंधे से लगाये भोली बड़ी सोचों में पड़ गयी–' लाला जी यह सुनहला जल गागर में था कि घड़े में? घट काँसी का था कि मिट्टी का?'

लेखिका की भाषा मे उसका रचनात्मक संघर्ष भी अपनी प्राकृतिकता में यहाँ दिखता है। एक सशक्त हृदय कैसे सभी परिस्थितियों, संघर्षों और सफलताओं की मिसालों से अटकर कथा का रूप लेता है जिसमें भावनात्मक संबल और संवेदनशीलता अपनी जमा–पूँजी के रूप में रचना को पोषित करते हैं। यह यथार्थ उपन्यास के संवाद–अंशों में लब्धित होता है। उपन्यास के एक अंश पर ध्यान दें :

'पुत्रो, चँद्रमा अकेला है। इसका कोई संगी–साथी नहीं। इसके कोई आगे–पीछे नहीं। जो मनुक्ख अकेला है, वही इसे साथी मान लेता है।'

'चँद्रमा ऊपर से धरती को देखकर दिल में बड़ा संताप पाता है। पर अपना दुख–दर्द किसी को नहीं दिखाता। सारे दुख–दर्द अन्दर ही अन्दर पीता रहता है। सो,चाँद का कालजा शिलाखण्ड बन गया है।'

ज़िंदगी से भरी–पूरी कथा–वस्तु को संजोए इस उपन्यास के शीर्षक के लिए कृष्णा सोबती को लम्बा क़ानूनी विवाद झेलना पड़ा था। हिन्दी की एक अन्य सुपरिचित लेखिका अमृता प्रीतम ने कॉपीराइट एक्ट के तहत इस शीर्षक के लिए मुकदमा कर दिया था। छब्बीस साल चले इस मुकदमे में एक पेशी के दौरान जज ने कहा था, 'बहुचर्चित लेखिका अमृता प्रीतम को तो मैं जानता हूं लेकिन यह कृष्णा सोबती कौन हैं?' कृष्णा जी ने जवाब दिया था, 'यहाँ दिल्ली में हिन्दी के लेखकों को कौन पहचानता है?'

कृष्णा जी के साक्षात्कारों में कहीं यह बात पढ़ी थी कि 'ज़िंदगीनामा' के माध्यम से वे ट्राइलॉजी लिखना चाहती थीं जो उनकी इच्छा के अनुरूप नहीं हो सका। लेकिन यह जो कुछ लिखा गया है वह हिन्दी साहित्य के पाठकों के लिए अक्षुण्ण धरोहर है जो अपनी विविधता और विपुलता में सम्पूर्ण है। ऐसे मौके भी आये जब हिन्दी के विद्वानों ने लेखिका की मुहावरेदार भाषा और कई बार बिना श्रम के कम समझ में आने वाली विभिन्न भौगोलिक पृष्ठभूमि की भाषाई विरासत पर टिप्पणी करते हुए कहा कि यह 'संगमी मेल' हिन्दी में नहीं चलेगा। यहां तक कि कुछ लब्धप्रतिष्ठ विद्वानों ने 'ज़िंदगीनामा' की भाषा पर आक्षेप करते हुए उसके 'हिन्दी' अनुवाद की आवश्यकता पर भी बल दिया। कृष्णा जी ने अपने उत्कृष्ट लेखन की सहजता में व्यस्त रहते हुए इन बातों के जवाब में सिर्फ यह कहा कि समय की प्रतीक्षा करो, किन्तु अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता को कभी उन्होंने भाषा–शैली की पारम्परिक संकीर्णताओं में बंधने नहीं दिया। आकाश की तरह विस्तृत अपने लेखन में उन्होंने जिस पृष्ठभूमि को जहाँ से उठाया उसकी नैसर्गिकता से छेड़छाड़ किये बिना उसका पोषण किया। उनकी यह विशेषता 'ज़िंदगीनामा' में आदि से अन्त तक लक्षित होती है। जहाँ तक भाषा का प्रश्न है इतना और कहना आवश्यक है कि भाषाएँ परस्पर अन्त: क्रिया करते हुए साहित्य को उसके अंग और आयुधों की तरह समृद्ध करती हैं। अन्य भाषाई शब्दों के मेल से लिखी गयी रचना को हिन्दी के सहज विकास और सम्वर्धन में सहायक मानना चाहिये।

पूनम अरोड़ा

'ज़िंदगीनामा' कृष्णा सोबती जी का एक ऐसा उपन्यास है जिसमें जीवन के तमाम पृष्ठ एक–एक कर क्रम में ऐसे दिखायी देते हैं जैसे किसी सुनिश्चित ऊँचाई पर से नीचे देखने पर जीवन अपने संदेहों से संवाद करता दिखायी देता है।

जीवन अगर एक नज़रिया है तो उसे दृश्य में बाँधने वाली दृष्टि जीवन के विकट अर्थों को तलाशती हुई एक शीतल किरण समान है। जहाँ हर नवीन मोड़ पूर्व के आभासों से स्तब्ध है। जहाँ हर एक बात समूचेपन में अपने गाँव की गलियों, लोगों, उनमें हुई नाराज़गियों, उलाहनाओं और अपने खेतों की मिट्टी की सौंधी खुशबू से सराबोर है।

देखा जाय तो 'ज़िंदगीनामा' को कृष्णा सोबती जी ने जिस फलक पर रचा है वह किसी भी कोण से स्वयं को ठेठ कस्बाई भावभूमि से विलग नहीं होने देता। ऐसा प्रत्येक क्षण महसूस होता है कि यहाँ पर जीवन नहीं बल्कि जीवन के विराट आयामों को विभिन्न दार्शनिक अनुभूतियों के स्पर्श से नवीन प्रतिमानों में अति मानवीय संवेदनाओं से रचा गया है। और ये नवीन प्रतिमान हैं– उपन्यास में कृष्णा जी का कथ्य और शिल्प।

कुछ पात्रों पर केन्द्रित होने के बरक्स यह उपन्यास सम्पूर्ण मानव समाज का प्रतिनिधित्व करता प्रतीत होता है। इस उपन्यास में कोई नायक–नायिका नहीं हैं बल्कि समूचा ग्रामीण जीवन और लोग अपने सुख और दु:ख के साथ बहते दिखायी देते हैं। और इस तरह से वे सभी इस उपन्यास के नायक और नायिका हैं।

'ज़िंदगीनामा' इस अर्थ में एक सूक्ष्म यथार्थवादी जीवन–दर्शन का परिचायक है जिसकी कहानी रिश्ते–नातों, खेत–खलिहानों, गाँव के रीति–रिवाज़ों, पकवानों और लोकगीतों से गुज़रती हुई हर किरदार को छूती हुई निकलती है।

इस विलक्षण उपन्यास का प्रारम्भ लयबद्ध पंक्तियों से होता है जो इसके भीतर के परिवेश से हमारा परिचय करवा कर हमें इसमें सम्मिलित होने की पूर्व तैयारी करवाती हुई सी प्रतीत

होती हैं।

गलबहियों–सी
उमड़ती, मचलती
दूधभरी छातियों–सी
चनाब और जेहलम की धरती
माँ बनी
कुरते के बन्द खोलती
दूध की बूँदे ढरकाने को।

यह प्रारम्भिक पंक्तियाँ एक विशुद्ध माहौल तैयार करती हैं ताकि पाठक उन पात्रों को दूर से नहीं बल्कि इतना क़रीब से देखे जैसे कि उनमें कभी कोई दूरी या फ़ासला न था और न होगा। उपन्यास के ग्रामीण परिवेश में शामिल हुए बिना इसकी भाषा और भाषा के सामर्थ्य को ग्रहण नहीं किया जा सकता। और न उसमें बहने वाली परम्पराओं के सौंधेपन को उन्मुक्त खुलाओं में देखा जा सकता है।

उपन्यास में कृष्णा जी की नायिकाएँ जहाँ एक तरफ़ परम्पराओं का निर्वाह करती दिखायी देती हैं वहीं दूसरी ओर अपने अस्तित्व की दीर्घ वृत्तियों को शाइस्तगी से स्वीकारती हुई वे परम्पराओं और मान्यताओं का खण्डन करती भी नज़र आ जाती हैं। जैसे महरी चाची का यह कथन कि

'यह सवाल–जवाब मेरे किस काम के! मैं तो तन मन से शाहों की हो चुकी। अब मेरा जीना–मरना रहना सब उनके संग!'

और राबयाँ का कहना कि 'शाह साहिब, मैंने आपको दिल में ऐसे धार लिया जैसे भगत मुरीद अपने साईं को धार लेते हैं।'

राबयाँ का इन पात्रों के बीच होना और उसके मीठे बोल जो दिलों में आनंद की फुहार छोड़ देते हैं, एक बहाना सा बना देते है उसके गीतों में ज़िन्दगी को देखने का।

जैसे शाहनी का माँबीबी से राबयाँ के बारे में पूछना कि

'आज राबयाँ न आई। बुल्लेशाह ही सुनाती। कल तो लड़की ने आनन्द कर दिया। ऐसे मीठे बोल उठाती है बारहामासे के कि तन–मन जी–जी जाय!'

'ज़िंदगीनामा' एक ऐसा वैचारिक उपन्यास है जिसमें लोगों का लोगों के प्रति रवैया उनके आख्यान से अलग नहीं है। जहाँ लोककथाएँ सुना कर बड़े बुज़ुर्ग अपनी आत्मीयता दिखाते हैं। जैसे– लालाजी का कथा सुनाना और शानो का भाई को गोद में लेकर कोठे–कोठे जा जनानियों को बुलावा देना। कथा सुनना और सुनाना यूँ तो मनोरंजन का ज़रिया लग सकता है लेकिन लालाजी जीवन और जीवन से जुड़ी बातें कथाओं के ज़रिये सुनाते हैं जैसे हर एक इंसान से इन कथाओं द्वारा वे मन जोड़ रहे हों। जैसे वे केन्द्र हो उन लोगों के लिए जो उनके आस–पास हैं और उनके मन की ऋतुओं को वे एक स्वप्नदर्शी की तरह समझ पा रहे हैं।

इस उपन्यास में कृष्णा जी ने जीवन की कुरूपता, मानवीय सम्बन्धों और मानवीय व्यवहार की असंख्य परतों

का एक साथ विस्तार से वर्णन किया है। हर पात्र अपनी मनोवृत्ति में कई चेहरों के पीछे से देखता है। हर पात्र कहीं न कहीं एक अनसुलझा प्रश्न सामने रख देता है कि न चाहते हुए भी हर पात्र को उस बड़े समाज का हिस्सा बनना ही पड़ता है जो विकृत और अमानवीय भी है।

'ज़िंदगीनामा' में भारतीय पारम्परिक ग्रामीण समाज है जो अपनी धरती, अपने खेत–खलिहानों, रस्मों और लोकगीतों के मध्य खुद को टुकड़ों में तलाशता है। यह समाज अपनी आस्थाओं का निर्वाह भी करता है और आत्मपीड़ा में जूझता हुआ भी दिखायी देता है।

एक सतत प्रयास में कृष्णा जी के पात्र हर उस पीड़ा से मुक्ति की आस भी बनाये रखते हैं जो उन्हें सापेक्ष दृष्टिकोण देता है, जो उन्हें इस अहसास से कभी मुक्त नहीं होने देना चाहता कि वे भी एक ऐसे मानसिक धरातल पर रहते हैं जिसपर वो अपने भविष्य के बारे में खुली आँखों से स्वप्न देख सकते हैं। फिर भी यहाँ स्त्रियाँ अपनी मजबूत उपस्थिति के साथ खड़ी हैं फिर चाहे वो फुलकारी काढ़ती दिखें या मीठे पकवानों के लिए इलायची–बादाम अपने पड़ोस से ले कर आयें। हर पात्र के भीतर अनकहे अहसास और बातें कई बार मन के कोनों में अपनी जागीर बनाकर बैठे मिलते हैं तो कभी अपनी आस्थाओं को पोषित करते मिलते हैं।

इस उपन्यास में कृष्णा जी की भाषा एक ऐसा तत्व है जो इसे बहुत ख़ास बनाता है। पंजाबी भाषा के शब्दों को जिस संजीदगी और जिस सहज भाव से उन्होंने उपन्यास में आने दिया है वह इस बात को बहुत दृढ़ता से ज़ाहिर करता है कि भाषा कला का अनमोल हिस्सा होती है जो इसे सौन्दर्यपूर्ण और यथार्थवादी बनाती है। ये शब्द पात्रों के मध्य अपनत्व की सीमा को मिटने नहीं देते और एक बड़े समाज को एक कुटुम्ब की भांति दिखाने में सक्षम होते हैं। जैसे लालाजी का प्रेम भाव से 'पुत्तरजी' कहना। और बेटी को 'धीय' कह कर सम्बोधित करना। और भी ऐसे कई शब्द हैं पंजाबी के जो इस उपन्यास को एक बहाव देते हैं। एक गति प्रदान करते हैं। पाठक उन शब्दों के आस–पास के संसार को आत्मसात् करने लगता है। यह कुछ इस तरह से है कि उपन्यास के जिस माहौल में हम प्रवेश करते हैं वे हमें पूरा अवसर देते हैं कि इस ग्रामीण समाज को वैसे ही हम देख, सुन और पढ़ पाये जैसे कि यह वास्तव में अपने रंग–रूप और तासीर में है।

और इस तरह से 'ज़िंदगीनामा' सर्वसाधारण की, ज़िन्दगी से जूझते हुए लोगों की कहानी है जो इसे समय, काल और परिकल्पनाओं से परे एक विलक्षण कृति बनाता है।

अनुराधा सिंह

'ज़िंदगीनामा' कृष्णा सोबती की ऐसी कालजयी कृति है जिसके कथानक के बिरवे के लिए पंजाब के गाँवों की आंचलिकता से छलकते सूफ़ी और लोकगीत उपजाऊ ज़मीन का काम करते हैं। इन गीतों में पंजाब के साहित्य और संस्कृति की सौंधी खुशबू ही नहीं जट्ट बाँकुरा इतिहास और रूमान भी है। इन्हीं गीतों के जरिये कृष्णा सोबती अपनी पंजाबियत के सूफ़ी वैभव से हिन्दी साहित्य को समृद्ध बना गयीं हैं। उपन्यास में शामिल देशज गीत और कवित्त पंजाब के मतवाले इश्किया और बलिष्ठ पौरुष से भरपूर तेवर रचने में महती भूमिका निबाहते दीखते हैं। उपन्यास के पूर्वार्ध में ही जहाँ शाह शाहनी के घर पर त्रिंजन (तीज) मनाई जा रही है गाँव की लड़कियाँ चरखा कातने आती हैं और वारिसशाह की हीर 'उठाकर' हवेली गुँजा डालती हैं।

'डोली चढ़दया मारियाँ हीर चीकाँ
मैनू लै चल बाबला लै चलो वे'

और चाची महरी कहती है, 'रब्ब रखवाला न हो आशिकों का तो मुहब्बतें तोड़ नहीं चढ़तीं। चनाब पार करने वाले घड़े ही गल जाते हैं।" गाने में पारंगत गाँव की बेटियाँ बाबो और फातमा सुहाग और भाई के ब्याह की रसूलवाली घोड़ी भी उसी दैदीप्य से गाती है कि दसों दिशाएँ गूँज उठें। पंजाब की धरती के सब मिथक रस्मो रिवाज़ जाग उठते हैं इन सुरीले बोलों में –

'मेरे वीर का सहरा आया

कोई माली गूंथ ले आया
उत्ते छत्र नबी का सोहवे
सालयात या अली।"

गाँव के अलिये की बेटी फ़तेह, रावी पार के धाड़ीवालियों के शेर अली के इश्क में गोते खा बैठी, मौके पर शेरा ने 'हीर' उठाई–

"चढ़िये डोली प्रेम की दिल धड़के मेरा
हाजी मक्के हज्ज करन मैं मुख देखूं तेरा।"

और तमाम इंतज़ाम सरंजाम के बाद जब फ़तेह की बारात आयी तो सखियों ने ठेठ हिन्दुस्तानी रिवाज़ के तहत सिठनी (गालियाँ) उठाई–

"चाचा न पढ़या तेरा दादा न पढ़या
पुत्तर हराम का मसीती न चढ़ाया
यह बात बनती नहीं!'

शादी ब्याह में वर पक्ष को सुना कर गालियाँ गाने का चलन बुंदेलखण्ड से पूर्वांचल तक प्रचलित है। जब यह समूची भारतीय संस्कृति का अभिन्न अंग ठहरा तो पंजाब ही क्यों पीछे रहे।

पंजाब में उत्तर भारत के टेसू झेंझी जैसा एक चलन है। तीज पर जिन घरों में शादी ब्याह हुआ हो, नयी नवेली आयी हों, संतानें पैदा हुई हों बच्चे उनके दर पर जाकर धेला, पैसा, दमड़ी माँगते हुए गाते हैं :

"भरी मिले भई भरी मिले
लाड़लों की भरी मिले।"

रंग तो कितने हैं कृष्णा सोबती की भाषा के इन्द्रधनुष में और इन गीतों कवित्तों ने तो क़दम–क़दम पर उन्हें इतना चटख कर दिया है कि पाठक के आनन्द कोष में समा ही न सकें। अनगिनत हीरें, कवित्त, गीत, बोलियाँ, घोड़ियाँ और सिठनियाँ फैली हैं पूरे उपन्यास में। अर्थ ठीक–ठीक पूरा समझ में न आते हुए भी भावार्थ हो जाता है। और बात सीधे कलेजे में लगती है। ये कवित्त देखने में छोटे होते हुए भी गम्भीर घाव करते हैं। खेतों में नहाती ठिठोली करती युवतियों को देख गबरू जट्ट सिकंदर ने ऊँची आवाज़ में 'हीर' के सुर उठा लिए :

'तेरा हुस्न गुलज़ार बहार बनया
अज हार शृंगार सब भाँवदा री
अज ध्यान तेरा आसमान ऊपर
तुझे आदमी नज़र न आँवदा री।"

इन चार पंक्तियों में छेड़छाड़, मनुहार, प्रणय निवेदन सब कुछ है। इन्हें सुनकर हँसती–हँसाती एक दूसरे पर छींटे मारती लडकियाँ पोखर से भाग खड़ी हुई।

बरसों बाद शाहनी की ऊसर कोख हरी हुई है, पीर फकीरों से माथा टेक कर, दरिया में स्नान कर लौटती है तो अकस्मात् बुल्लेशाह का बारहमासा गा उठती है–

"फागुन फूले खेत ज्यों बन तन फूल शृंगार
होर डाली फुल पत्तियाँ गल फुल्लां के हार
मैं सुन–सुन झुर–झुर मर रही
कब आवे घर यार।"

इन कवित्तों में भारतीय जीवन दर्शन भी है, साखियाँ भी, जीवन के शाश्वत नियम भी–

"गए वक्त ते उम्र फिर नहीं मुड़दे
गए करम ते भाग न आँवदेने
गई लहर समुद्रों तीर छुटा
गए मौज मज़े न आँवदेने
गई गल ज़बान थी नहीं मुड़दी
गए रूह कलबूत न आँवदेने"

(.....न वक्त वापस लौटता है न उम्र, न कर्म, न भाग्य, न बढ़ी हुई लहर, न धनुष से छूटा हुआ तीर, न जा चुके मौज मजे, न जुबां से निकली बात, न देह से निकली आत्मा।)

मौलवी भी बच्चों को कवित्त में ही पाठ पढ़ाते हैं–

"पक्षियों में सैयद : कबूतर
पेड़ों में सरदार : सीरस
पहला हल जोतना : न सोमवार न शनिवार
गाय भैंस बेचनी : न शनीचर न इतवार
दूध की पहली पांच धारें : धरती को
नूरपुर शहान का मेला : बैसाख की तीसरी जुम्मेरात को"

तो बच्चे भी तुकबंदी में ही शरारतें करते हैं :

"लायक से बढ़िया फ़ायक
अगड़म से बढ़िया बगड़म
हाज़ी से बड़ी हज्ज़न
मूत्र से बड़ा हग्गन"

सार यह है कि कृष्णा सोबती की इस अमर कृति में गुंथे हुए ये सूफी और लोक गीत उसका दुर्बल पक्ष भी हैं और सबल भी। सबल इसलिए क्योंकि इनका प्रयोग न केवल उपन्यास को वास्तविकता के धरातल पर खड़ा करता है, बल्कि पाठक को पात्रों की भावनाओं और पंजाब की मस्तमौला संस्कृति से भी परिचित करवाता है। दुर्बल पक्ष यह कि ये इतनी क्लिष्ट, ठेठ पंजाबी और डोगरी भाषा में कहे गये हैं कि ग़ैर–पंजाबी पाठक के लिए इनका अर्थ समझना दुष्कर है। लेखक और प्रकाशक ने कहीं भी इन दुरूह कवित्तों और बोलियों का अर्थ या सन्दर्भ सूत्र देने की आवश्यकता नहीं समझी है। इस तरह पाठक को उसके अनुमान और विवेक के भरोसे छोड़ दिया गया है।

अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता :

कटौतियाँ, चुप्पियाँ, चतुराई और चालाकियाँ

पराग मांदले

अभिव्यक्ति के सन्दर्भ में आज का दौर विचित्र विरोधाभासों से भरा हुआ दौर है। एक ओर अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता का ही दुरुपयोग करके अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता को बाधित करने के प्रयास बड़े पैमाने पर किये जा रहे हैं, वहीं दूसरी ओर अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता के हनन का आरोप लगाने वालों की आवाज़ किसी भी दौर से ज्यादा मुखर और तेज है। आज अभिव्यक्ति के नाम पर मुद्दों से ज्यादा शोर गूंज रहा है। मगर विडम्बना यह है कि यह शोर भी सिलेक्टिव है। इसमें मुद्दों से ज़्यादा पक्षधरता को महत्व दिया जाता है। और पक्षधरता के अनुरूप ही मुखरता या मौन में से किसी एक के चुनाव की चतुराई बरती जाती है। किसी मुद्दे पर हो रही बहस में जब अपना पक्ष कमज़ोर पड़ता दिखता है तो बड़ी चालाकी से मुद्दे से इतर बातें करके मूल मुद्दे को बगल दी जाती है।

आज किसी भी प्रकार की अभिव्यक्ति हो, सोशल मीडिया अपनी व्यापक पहुँच के चलते इसका सबसे बड़ा मंच बना हुआ है। इस मंच पर झूठ को प्रभावी तरीक़े से और बड़े पैमाने पर प्रचारित करके सच को स्थानापन्न करने की कोशिशें भी कम नहीं हो रहीं। अभिव्यक्ति के इस नये और व्यापक पहुँच वाले मंच पर पूरा देश

सर्वथा विपरीत ध्रुवों के बीच बँटा हुआ दिखायी दे रहा है। एक ओर जहाँ सत्ताधारी नेतृत्व के अंधभक्तों की एक बड़ी फ़ौज़ अपने नेता पर होने वाली किसी भी विपरीत टिप्पणी पर पूरे दम–खम से ऐसा करने वाले के मानमर्दन करने में जुट जाती है, वहीं दूसरी ओर इस बात से भी इंकार नहीं किया जा सकता कि जितने बड़े पैमाने पर और जितने तीख़े ढंग से वर्तमान सरकार, शासक दल और उसके पितृ संगठन की आलोचना हर स्तर पर की जा रही है, उतनी शायद स्वतन्त्र भारत के इतिहास में कभी नहीं हुई थी।

आज का दौर बहुत ख़तरनाक दौर है क्योंकि इसे बहुत सुनियोजित तरीके से दो ध्रुवों में बाँटने का प्रयास किया गया है और उसमें बड़ी हद तक सफलता भी ऐसा करने वालों को मिली है। आज आप यदि मेरे समर्थन में नहीं हैं तो मेरे विरोध में हैं, ऐसा सरल रेखीय निष्कर्ष निकालने का दुराग्रह बहुत व्यापक स्वरूप में है। ऐसे में वे लोग जो किसी मुद्दे या किसी भी व्यक्ति, सरकार या संगठन के किसी भी क़दम की मीमांसा तर्क और तथ्यों के आधार पर और गुण–दोषों के अनुरूप करना चाहते हैं, भीषण रूप से स्वयं को असहाय और एकांगी पाते हैं। उन्हें दोनों पक्ष, अपने विरोध की स्थिति में दूसरे पक्ष का साबित करने में पूरा जोर लगा देते हैं। आज पूरा देश बड़ी चालाकी से संघी और वामी नामक दो खेमों में बाँटा जा रहा है। एक ऐसा ही विभाजन मोदीभक्त या मोदीविरोधी का भी हो गया है। और विडम्बना यह है कि दोनों ही पक्ष अपना विरोध करने वाले की अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता को या तो बड़ी मुखरता से नकार देते हैं या उसके हनन पर शातिराना ढंग से चुप्पी साध लेते हैं।

एक और लक्ष्यभेदी चित्र आप आज के इस दौर में देख सकते हैं। एक लम्बे अरसे बाद, सीधे कहें तो २५ सालों के लम्बे अन्तराल के बाद कोई दल पूर्ण बहुमत लेकर इस देश में सत्तासीन हुआ है, जिसका नेतृत्व एक प्रचन्ड आत्मकेन्द्री व्यक्ति के हाथों में है। इसके विपरीत आज का राजनैतिक विपक्ष पूरी तरह से निस्तेज है। और राजनैतिक विपक्ष के अस्तित्व के अभाव की पूर्ति आज वह बुद्धिजीवी वर्ग कर रहा है जो आमतौर पर वामपंथी विचारधारा से प्रेरित और प्रभावित है या कम से कम खुद को ऐसा साबित करने की कोशिश करता है। और विडम्बना यह है कि राजनैतिक विपक्ष की बलहीनता की इस दशा में शासन को निरंकुश होने से बचाने के लिए बुद्धिजीवी विपक्ष की उपस्थिति से राहत महसूस करने जैसी स्थिति में भी एक बड़ा वर्ग नहीं है, जो विचारों के दो सर्वथा विपरीत सिरों में से किसी के साथ भी अपनी संलग्नता महसूस नहीं करता। क्योंकि बुद्धि जीवी विपक्ष राजनैतिक विपक्ष को रिप्लेस करने की कोशिश में राजनैतिक विपक्ष की तरह ही एकांगी विरोध की मानसिकता से ग्रसित है। उसके विचारों या निष्कर्षों में सन्तुलन का अभाव है। वह विरोध की हड़बड़ी में सत्ता की साजिशों का शिकार होकर ऐसे मुद्दों पर हमलावर और मुखर होता है, जो जान–बूझकर खड़े किये जा रहे हैं। और इसकी आड़ में सत्तापक्ष बड़ी संख्या में ऐसे निर्णय ले रहा है, बदलाव कर रहा है जो इस देश पर, इस देश की व्यवस्था पर और इस देश की करोड़ों की जनसंख्या पर सीधे असर डालने वाले हैं।

ऐसे में अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता को बचाये रखने की चुनौती बहुत बड़ी है। इस चुनौती का सामना करने के लिए हमें गांधी की शरण में जाना होगा। हमें गांधी का दिया वह जंतर याद करना होगा जिसमें उन्होंने कहा था कि 'मैं तुम्हें एक जंतर देता हूं। जब भी तुम्हें संदेह हो या तुम्हारा अहम् तुम पर हावी होने लगे तो यह कसौटी अपनाओ, जो सबसे ग़रीब और कमज़ोर आदमी तुमने देखा हो, उसकी शक्ल याद करो और अपने दिल से पूछो कि जो कदम उठाने का तुम विचार कर रहे हो, वह उस आदमी के लिए कितना उपयोगी होगा, क्या उससे उसे कुछ लाभ पहुँचेगा? क्या उससे वह अपने ही जीवन और भाग्य पर काबू रख सकेगा?' गांधीजी के इसी जंतर का उपयोग हमें कुछ अलग स्वरूप में करते हुए किसी भी मुद्दे पर बोलने से पहले अपने–आप से पूछना

होगा कि जो बात हम कहने जा रहे हैं, क्या वह सचमुच तथ्यों और तर्कों के आधार पर है, किसी व्यक्ति, पक्ष या विचारधारा का अंधा समर्थन ना होकर इस देश के सबसे निचले, सबसे आख़िरी छोर पर खड़े व्यक्ति के पक्ष में है। हमें अपने विचार रखते समय अपने हित से अधिक सच को प्राथमिकता देनी होगी। हम हर संघर्ष में उस व्यक्ति के साथ खड़े हों जिसके साथ सच है, चाहे वह किसी भी पक्ष का हो या विचारधारा का हो।

इसके साथ ही हमें सावधान रहना होगा। जो व्यक्ति तथ्यों और तर्कों के आधार पर आपसे मुक़ाबला नहीं कर सकता, वह पहले आपको अनर्गल बातें करके अपने स्तर पर नीचे खिंचेगा। और यदि एक बार आप उसके जाल में फँस कर अपने स्तर से नीचे उतरे तो फिर वह आपको अपने हथियारों से आसानी से परास्त कर देगा। हाल के समय में हमने अभिव्यक्ति के कई पैरोकारों को इसी पैंतरे का शिकार होकर गाली–गलौच के स्तर पर गिरते हुए देखा है।

वह दौर और था, जब समय तटस्थ रहने वालों का अपराध लिखा करता था। आज जिस तरह से इस देश की वैचारिकी को दो ध्रुवों में बाँटने की कोशिश हो रही है, उससे तटस्थ होकर एक तीसरे ध्रुव का निर्माण ज़रूरी है, जिसके केन्द्र में हर तरह के विकास से वंचित वह आख़िरी व्यक्ति हो, जिसके सिर की छत, तन का कपड़ा और मुँह का निवाला ही नहीं, साँसें भी छीन लेने का षड्यन्त्र किया जा रहा है। हमारी आवाज़ विकास की अंधी दौड़ में हो रही पर्यावरण की अपरिमित हानि से प्रभावित होने वाले नदी–तालाबों, मूक पशु–पक्षियों, कीट–पतंगों के अस्तित्व के लिए मुखरित हो। आज जबकि पूरा विश्व चन्द लोगों के स्वार्थ के नंगे नाच की वजह से नष्ट होने की कगार पर पहुँच गया है, अपने क्षुद्र स्वार्थ के लिए बोलना सबसे बड़ी अश्लीलता है।

संजय कबीर

निश्चित तौर पर आज़ादी कोई अमूर्त चीज़ नहीं है। आज़ादी वो वातावरण है जिसमें हम जीते हैं, साँस लेते हैं। कभी यह आज़ादी सीमित होती है तो हमारी साँसे घुटने लगती हैं। कभी हम अपनी आज़ादी के विस्तार के लिए छटपटाते तो कभी पहले से पायी गयी आज़ादी को बचाने के लिए ही इंच–इंच संघर्ष करते हैं।

आज़ादी के तमाम रूप हैं। इसमें भी एक रचनाकार के लिए अभिव्यक्ति की आज़ादी सबसे ज़्यादा महत्वपूर्ण है। जो कुछ वह समझता है, इस दुनिया को जैसे वह देखता है, उसे वह कह सके। बोलने की उसे आज़ादी है। बिना इस बात की परवाह किये कि अपने कहे गये शब्दों के लिए उसे किसी भीड़ के न्याय का शिकार होना पड़ेगा। या फिर सत्ता उसे उठाकर हाशिये पर फेंक देगी।

ख़ासतौर पर पिछले कुछ सालों में कहने–सुनने, बोलने–लिखने की आज़ादी को दबाने की तमाम साजिशें पूरे जोर–शोर से चलती दिख रही हैं। कट्टरपन्थी गुण्डों की गोलियों का शिकार बनी गौरी लंकेश से लेकर कलबुर्गी और गोविन्द पानसारे जैसे तमाम लोगों ने अपनी बात कहने की क़ीमत जान देकर चुकाई है। जबकि, कांचा इलैया जैसे लेखक खुद को अपने घर में बंद करके इसका सामना करने को मजबूर हुए हैं। क्या हमारी कल्पना में कभी ऐसा समाज था, जहाँ पर बात जबान से निकली भर नहीं कि ट्विटर जैसे सोशल माध्यमों पर गालियाँ देने से लेकर जान से मारने की धमकियाँ देने वालों की पूरी एक भीड़ खड़ी हो जायेगी। कौन हैं ये लोग। ये खुलेआम किसी को जान से मारने की धमकियाँ देते हैं, किसी के मारे जाने पर खुशी मनाते हैं, उसकी हत्या को जायज ठहराते हैं। इन पर कोई कार्रवाई क्यों नहीं होती। क्या सत्ता की मौन सहमति के बगैर ऐसा होना सम्भव है। क्या विचार और तर्क का जवाब किसी ख़ौफनाक हथियार से निकली गोलियाँ हैं।

युवा २०१७ ने मुझे अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता पर अपने विचार रखने का मौका दिया। यह मेरे लिए एक बड़ा अवसर है। मैं बार–बार सोचता हूँ कि मेरे लिए इस सवाल का मतलब क्या है। मैंने आख़िर ये क़लम क्यों पकड़ी है। मेरे लिए तो यह उत्पीड़ित का साथ देने का एक तरीक़ा भर है। इंसान की इसी पीड़ा का बयान करना है। मैं कोई तटस्थ व्यक्ति नहीं हूं, जो उत्पीड़न करने वाले और उत्पीड़न सहने वाले को एक ही निगाह से देखता है। जी नहीं, मेरी राय से यह ठीक नहीं है। मैं तो अपनी क़लम से उत्पीड़न करने वाले की जड़ पूरे जी–जान से खोदना चाहता हूँ। इसमें ख़तरे हैं। इसी के चलते बहुत सारे तथाकथित लेखकों की समझदारी भरी चुप्पियाँ भी सामने दिखती हैं। कहीं पर चतुराई भरे समझौते हैं। चापलूसियों के बदले सत्ता से अपने लिए कोई बड़ा टुकड़ा हथियाने की भी चालाकियाँ हैं। कवि मुक्तिबोध की पंक्तियाँ हैं– अब अभिव्यक्ति के सारे खतरे उठाने ही होंगे। तोड़ने होंगे ही मठ और गढ़ सब। जी हाँ, अपनी बात कहने के ख़तरे तो हैं। लेकिन, मेरे ख़याल से जब हम यह कहना बंद कर देते हैं तो हमारी क़लम भी मरने लगती है। इसलिए रचनाकार के लिए अभिव्यक्ति की आज़ादी का सवाल सच कहने और अपनी क़लम को ज़िन्दा रखने का सवाल भी है।

यह सवाल रचनाकारों के लिए आज और ज़्यादा महतवपूर्ण इसलिए भी बन गया है क्योंकि लोगों तक सूचनाएँ पहुँचाने वाले तमाम माध्यम सच पर झूठ का मुलम्मा चढ़ाने में जुटे हुए हैं। इसलिए लिखने–बोलने वालों की ज़िम्मेदारी कई गुना ज़्यादा बढ़ गयी है।

अमिताभ राय

अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता की अवधारणा मूलत: और सारतत्त्वत: एक आधुनिक राजनैतिक विचार है। यह मूलत: राजनैतिक विचार है, क्योंकि स्वतन्त्रता के पश्चात् यह संविधान द्वारा हमें एक नागरिक अधिकार के रूप में प्राप्त हुआ है। स्वतन्त्रता के पूर्व मध्ययुगीन सामन्ती समाजों और आधुनिक अँग्रेज़ी शासनकाल में तो अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता का कोई प्रश्न ही नहीं उठता था। इन कालों में अभिव्यक्तियाँ तो थीं, परन्तु उसकी स्वतन्त्रता का विमर्श नहीं था। इस राजनैतिक विचार का अभ्यास, उसकी पहुँच, उसकी सार्थकता–निरर्थकता पर बहस आज मात्रा और गुण में इतनी ज़्यादा हो गयी है कि यह एक सार्वकालिक अथवा दीर्घकालिक सन्दर्भ नज़र आता है।

संविधान में इसे नागरिकों का मौलिक अधिकार माना गया है। अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता लोकतान्त्रिक राज्य व्यवस्था के लिए अनिवार्य है। लोकतन्त्रात्मक व्यवस्था न्यूनतम सहमति पर आधृत व्यवस्था है। सहमति संवाद के माध्यम से ही कायम हो सकती है। संविधान के अनुच्छेद १९ में जो अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता पर इतना जोर दिया गया है, वह इसी संवाद की आवश्यकता के कारण। यह तो अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता का कारण है। परन्तु अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता का सामान्य अर्थ यह होगा कि प्रत्येक नागरिक अपने विचारों, विश्वासों और दृढ़ निश्चयों को निर्बाध–रूप से तथा बिना किसी रोक–टोक के मौखिक शब्दों तथा लेखन, मुद्रण, चित्रण के द्वारा अथवा किसी अन्य ढंग से अभिव्यक्त करने के लिए स्वतन्त्र है।

किन्तु उपर्युक्त तमाम बातें इस सन्दर्भ का सैद्धान्तिक पक्ष हैं। सिद्धान्त और व्यवहार में अगर समतुल्यता हो, एका हो, तो दुनिया बुनियादी रूप से बहुत सुन्दर और मानवीय होती। जो अधिकार हमें संविधान द्वारा प्राप्त हुए हैं, वे निर्बाध नहीं है। अनुच्छेद १९ के अधीन ही अनेक ऐसे प्रावधान हैं, जिसके कारण ये अधिकार सीमित हो जात हैं। जैसे– राज्य की सुरक्षा, विदेशों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध, लोक व्यवस्था, शिष्टाचार और सदाचार, न्यायालय की अवमानना, मानहानि, अपराध के लिए प्रोत्साहन, भारत की सम्प्रभुता तथा अखण्डता सम्बन्धी हित और अधिकार आदि।

अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता की कसौटी सम्बन्धित उपर्युक्त जितने भी सन्दर्भ हैं, व्याख्या–सापेक्ष हैं। साथ ही इसमें सत्ता की भूमिका आत्यन्तिक है। समाज की उदारता से भी फ़र्क़ पड़ेगा। सत्ता और समाज के इतिहास और कार्य–पद्धतियों पर ग़ौर किया जाय, तो अधिकांश समयों में वह व्यवस्थावादी रही है। उसकी कोशिश

रहती है कि वह ख़ुद को बनाये रख सके (चाहे सत्ता जितनी बड़ी या जितनी छोटी हो)। इस कोशिश में अकसर वह अनुदार हो जाती है अर्थात् जो संविधान से हमें सैद्धान्तिक रूप में मिला है और व्यावहारिक रूप में समाज की नियामक शक्तियों की कार्य–पद्धति में एक बड़ा अन्तर्विरोध है। व्याख्या के समय यह अन्तर्विरोध अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा है। चूँकि सत्ता के पास ही शक्ति और ताकत के सारे सन्दर्भ हैं (मसलन विभिन्न संस्थाएँ, पुलिस, बल, हथियार और संविधान को तोड़ने–मरोड़ने की क्षमता आदि) तो अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता में कटौतियों के तमाम सन्दर्भ सत्ताओं से जुड़े हैं। फिर सत्ता धार्मिक हो या राजनैतिक या सामाजिक। चूँकि आज राजनीति के सर्वव्यापी स्वरूप के समक्ष धार्मिक, सामाजिक तथा अन्य क़िस्म की ताक़तें छोटी हो गयी हैं (या कहें कि नगण्य रह गयी हैं तो भी अतिश्योक्ति नहीं होगी) तो राजनैतिक स्तर की कटौतियों का चरित्र ज़्यादा दूरगामी स्थायी और विध्वंसक होगा। जब सलमान रस्दी पर (सेटेनिक वर्सेज के कारण) अथवा तसलीमा नसरीन पर (लज्जा तथा अन्य पुस्तकों के कारण) धार्मिक सत्ताओं ने फतवे जारी किये, तो इसका असर बहुत व्यापक नहीं था। भोक्ता केवल इंडीविजुएल सामाजिक ही रहें। इन घटनाओं पर बौद्धिकों की प्रतिक्रियाएँ यह स्पष्ट करती है कि जब सत्ताएँ अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता में कटौती करती हैं, तो यह स्थिति बौद्धिकों को सहज स्वीकार्य नहीं होती। इसी तरह की घटना के शिकार मशहूर चित्रकार मकबूल फ़िदा हुसेन भी हुए थे।

इंडिविजुएल के पक्ष–विपक्ष में खड़े होने से, धार्मिक–सामाजिक संगठनों अथवा संस्थानों के पक्ष–विपक्ष में खड़े होने से, न समाज के व्यापक परिदृश्य पर कोई खास फ़र्क़ पड़ता है और न ही सत्ता को विशेष फ़र्क़ पड़ता है। जब सत्ता या राजनैतिक संगठन अन्यान्य कारणों से अनेक क़िस्म की चालाकियों से इस अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता के मार्ग में बाधा उत्पन्न करते हैं, तो सबसे पहले विरोध का स्वर समाप्त हो जाता है या होने लगता है। आज जब भी कोई विरोध में लिखता है, तो बड़े आसानी से पकड़ लिया जाता है। उसे आतंकवादी, राष्ट्रद्रोही या नक्सलवादी कहकर सरकार आराम से गिरफ़्तार कर सकती है। मान लीजिए कोई नक्सलवादी विचारधारा का है और बेहद ग़रीब जनता के पक्ष से कुछ प्रश्न कर रहा है, तो सरकार उसका समाधान करने के स्थान पर उसे पकड़कर जेल में डाल देती है। और वह प्रश्न अनुत्तरित रह जाता है! दूसरे विरोध करने वालों और प्रश्न करने वालों को न समाज और न सत्ता के यथास्थितिवादी पसन्द करते हैं। तो सत्ता अपने संस्थानों का उपयोग कर एक निर्धारित प्रक्रिया और चालाकी के तहत उनके विरुद्ध एक माहौल निर्मित करती है। इस निर्मित माहौल में जनता स्वयं प्रश्न करने वालों के विपक्ष में खड़ी हो जाती है। इससे समाज में सत्ता की निरंकुशता बढ़ती है और अभिव्यक्ति सीमित होती जाती है। यह समाज में एक प्रवृत्ति और प्रक्रिया के रूप में घटित हो रहा है।

इन प्रक्रियाओं का इस्तेमाल कर पिछले कुछ वर्षों में, समाज में जिस प्रकार से सामाजिक असहिष्णुताओं की बढ़ोत्तरी हुई है, वह इसी प्रक्रिया और सत्ता की चालाकियों से निर्मित हुई है। 'अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता' में कटौती की अन्तिम परिणति जनता के स्वयं ही साम्प्रदायिक अथवा अर्द्ध साम्प्रदायिक हो जाने में है। इसका साफ़ प्रमाण यह है कि पिछले कई वर्षों में हिन्दुओं और मुसलमानों के समूहों ने कई बार हिंसक प्रदर्शनों के माध्यम से पुस्तकों, प्रदर्शनियों, फ़िल्मों, नाटकों आदि पर सफलतापूर्वक प्रतिबन्ध लगवाया है।

सत्ता की चालाकी के साथ जनता के प्रबुद्ध वर्ग की चालाकियाँ और उनके अपने क्षुद्र निहितार्थों में किये गये कार्य भी इस प्रकरण में काफ़ी घातक हैं। उनकी चालक चुप्पियाँ, जो अकसर तटस्थता का लबादा ओढ़े रहती है, अन्तत: सत्ता को, उसकी क्रूरताओं और चालाकियों को ही फायदा पहुँचाती हैं।

मोबिन जहोरोद्दीन

मेरी परवरिश वारकरी पन्थियों के बीच हुई। शोध भी वारकरी सम्प्रदाय पर किया। जाहिर है मेरे परिवार से सम्बन्धित, चाचा–मामा, बुआ–मौसी सभी वारकरियों में से निकले। मैंने अपना इतिहास सबसे पहले वारकरी पाठ के रूप में ही जाना। वारकरियों ने ही मुझे इतिहास का मतलब सिखाया, जब समझने–बूझने का हुआ तो पहली बार महसूस किया कि मेरे पालनकर्ता नाना जी असल में एक जातिवादी व्यक्ति हैं। सम्भवत: उनकी सीमा रही हो! उनकी संगत उन्हें ऐसा बनाती हो! कहना केवल इतना है कि इतिहास, संस्कृति नहीं होता। इतिहास जड़ होता है, संस्कृति एक गतिमान प्रक्रिया है। संस्कृति, बदलती आयी है और बदलनी भी चाहिए। परिवर्द्धन और परिवर्तन संस्कृति का नियम है। इतिहास से सबक लें और एहतियात बरतें कि हमारे पूर्वजों ने जो ग़ल्तियाँ की हैं, उन्हें हम न दोहराए। इतिहास खिलवाड़ की वस्तु नहीं है, इतिहास में फेर–बदल की हिमाकत करने का मतलब है आने वाली नस्लों की संस्कृति को तबाह करना। पीछे मुड़ कर ज़रूर देखें, लेकिन उन बरगदों को देखें जिन्होंने तन–मन इस गंगा–जमनी तहज़ीब पर न्यौछावर कर दिया। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि गुज़रे वक़्त की अपनी हदें थीं।

इतिहास के साथ खिलवाड़ करनेवाले समझते हैं, वे चालाक हैं। वे समझते हैं, वे चतुर हैं। वे समझते हैं कि हमें चुप कराया जा सकता है। इधर–उधर का हील–हवाला देकर, बेमाने साक्ष्यों को गढ़कर वे अपना उल्लू सीधा कर सकते हैं। बेतुकी दलीलों को देकर हम पर कहर–जुल्म ढा सकते हैं। वे समझते हैं हम सहने के लिए बने हैं। जुतने के लिए बने हैं। उन्हें इत्तिला कर दिया जाय कि हम संस्कृतिकर्मी हैं, पर 'वाङ्चू' नहीं हैं। सत्तर ही नहीं, हम हज़ारों सालों से अभिव्यक्त होते आये हैं, दीगर बात है कि 'लिखे' इतिहास में हम अनलिखे ही रह गये। हमारी वाणी मूक करने की कई कोशिशें कि गयी। यदि देख सकते हो तो समझो–विचारो की तुम्हारे इतिहास में समष्टि का भाव था ही नहीं। जिसका खामियाज़ा हम और तुम या कहें सब भुगत रहे हैं।

लिख–पढ़कर हमें इल्म हुआ है कि हमारा इतिहास ताक़तवर है, वो सवाक् है और गूंगा तो बिलकुल नहीं है। तुम्हारे पास कई हथकण्ड़े हैं। तुम डरते हो, अपने चेहरे पर मुखौटे पहनकर आते हो। हमारे सपाट–खुरदरे चेहरे हैं, ईमानदारी से लबालब चेहरे। हम सभी भाषाओं में प्रश्नचिन्ह एक ही जैसा लिखते हैं, बोलते भी हैं तो आबो–हवा की फिक्र नहीं होती, तुम जवाब देते एसे लगते हो गोया बग़लें झाँक रहे हो। मानो कोई चोर बहुत अंदर–भीतर बैठा हो, इतना चंचल और शरारती कि बार–बार बाहर आने को कुलाँचे मारता हो। हम प्रकृति हैं, हम देश हैं, हम दुनिया हैं। दुनिया इतनी ख़ूबसूरत नहीं थी, इसे रहने लायक हमने बनाया, रहते मगर तुम हो। अब हम भी रहने की जिद ठान चुके हैं।

तुम हमारे खिलाफ किताबी तर्क गढ़ते आये हो, अब मशीनी गढ़ रहे हो। अब ये किताबी मूर्तियाँ और रोबोट तुम्हारे ही ऊपर आयेंगे, वो न बोलेंगें, क्योंकि तुम्हारा इतिहास 'ढाई आखर' नहीं जानता, वह तो रटन्त ज्ञान का भंडार है, हमारा इतिहास वाक् और कर्म का है। ऐसा नहीं कि हम सुनते नहीं हैं, केवल बोलते ही हैं, पढ़ते ही हैं, लिखते नहीं। यही दिक़्क़त है तुम्हें कि अब हम सिर्फ और सिर्फ सुनते और पढ़ते ही नहीं लिखते भी हैं। पहले तुम्हें हमारे सुनने से दिक़्क़त थी, तुमने हमारे कानों में खौलता शीशा डाला। तुम्हें ताज्जुब हुआ कि हम पढ़ कैसे लिए, तुमने हमारे आँखें निकाल दी। तुमने हमें जंगलों में खदेड़ दिया, तुमने हमें नालियों में ढकेल दिया, तुमने हमें गटरों में उतारा, तुमने हमें गैस–चेम्बर्स में बन्द किया, तुमने हमारे खाने–पीने–जनने–शादी–ब्याह–कपड़े सभी पर पाबन्दियाँ लगायीं। लेकिन अब हम तुम्हारे तौर–तरीक़ों से वाकिफ हैं। हमने तुम्हारे हर 'कोड़' को डी–कोड किया है, यह हमारे प्रतिरोध का एक अंग है, वाक् से, कर्म से हमने अपना विरोध जताया है। जाति को हम तोड़ रहे हैं, तुम्हारी साम्प्रदायिकता को तोड़ रहे हैं। तुम्हारा इतिहास लिखे शब्दों का है, हमारा कर्मों का भी है। हमारे रहते तुम हमें अब और एकान्तवास नहीं दे सकते हो, न वनवास। हम इतने भी 'तुम' नहीं हैं कि तुम्हारे साथ वही करें जो तुम हमारे साथ करते आये हो। हम तुम्हें इन्सान बनायेंगे। तुम्हें वह सब देंगें, जो इन्सान होने के नाते आज़ादी तुम्हें मिली है। हम उसे छीनेंगे नहीं, क्योंकि हम जानते हैं, इसके अभाव में जीवन जीना क्या होता है? हमारे पुरखे जानते थे कि किसी की जिह्वा काट देने कैसी पीड़ा का अनुभव होता है। तुम्हारे उत्तर की अपेक्षा नहीं है हमें। पर ये न समझना कि हमारे प्रश्न ख़त्म हुए हैं! हर सवाल का जवाब माँगेंगे! तुम्हारे जवाब सुनेंगें और जब–जब तुम एय्याशी करोगे हम तब–तब सवाल दागेंगे। चालाकी, धूर्तता, शातिराना अंदाज़ अब बीते कल का शगल हुए। अब जो तुम रू–ब–रू हो वोगे तो हिदायतन ईमानदार रहने की कोशिश करना।

बलराम कांवट

कहीं पढ़ा था कि अगर सब कुछ ख़त्म हो जाय, तब भी जो बचेगा वह है– प्रश्न। यह भी सुना है कि जीवन को समझना कितना ही दुष्कर क्यों ना हो, दो बातें आसानी से समझी जा सकती हैं– जीवन का अर्थ है जीवन को बनाये रखना, ना सिर्फ़ बनाये रखना लेकिन उसे बेहतर बनाना। संसार के सारे संघर्ष इन्हीं के लिए होना चाहिए और मनुष्य का यह संघर्ष रूकेगा नहीं। यही है जिसे सही अर्थों में 'विकास' कहते हैं। इस पूरे विकास में जहाँ प्रकृति का महत्त्व है, वहीं उन संयोगों और प्रयासों का भी है जिनके चलते हम यहाँ तक पहुँचे। हमारे पास भाषा है, प्रेरणा है, मौलिक कर्म करने की शक्ति है, और सबसे बड़ी बात– हमें पता है कि ऐसा कोई समय नहीं आयेगा जब सारी समस्याएँ समाप्त हो चुकी होंगी, मनुष्य पूर्णत: प्रसन्न हो सकेगा, हम कोई अन्तिम सत्य पा चुके होंगे। हमें पता है वह स्वर्ग कहीं नहीं है, लेकिन हम इतनी निरार्थकता के साथ जी नहीं सकते। यह जीवन के ख़िलाफ़ है, और क्योंकि (दुर्भाग्यवश ही सही) 'जीवन है', इसलिए हम अर्थहीनता से बचने के लिए ही अर्थ उत्पन्न करते हैं ताकि यह दुनिया रहने लायक बन सके।

आज हम जहाँ हैं उसे एक शब्द दे सकते हैं– 'लोकतन्त्र'। यह कोई अंतिम सत्य नहीं है लेकिन आगे कहीं भी पहुँचने के लिए यही वह रास्ता है जो हमारे सामर्थ्य में है। ज़ाहिर है आगे के लिए इस रास्ते को रचने और इसे बेहतर बनाने की कोशिश हमारे 'आज का लक्ष्य' है। समानता, स्वतन्त्रता, आधुनिकता और शोषण–मुक्त

समाज से लेकर वैज्ञानिकता तक के सारे स्वप्न दरअसल इसी रास्ते से जुड़े हैं। अब संघर्ष के मुख्य बिन्दु दो समूह हैं– एक जो इन मूल्यों को नहीं चाहते, दूसरे जो इनकी प्राप्ति के लिए संघर्षरत हैं। एक जो अन्याय और दमन की दुनिया चाहते हैं, दूसरे जो इस दुनिया को बदलने के लिए लड़ते हैं। एक इन संघर्ष करने वालों को ख़त्म करना चाहता है, दूसरे इन ख़त्म करने वालों के ख़िलाफ़ आवाज़ बुलंद करना चाहते हैं। एक जिन्हें यह अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता खटकती है, दूसरे जिन्हें हर हाल में यह अधिकार सुरक्षित करना है। यही जद्दोजहद है और यह अभी चरम पर है।

किसी ने कहा है कि सारी सत्ताएँ अपने मूल में एक–सी होती हैं। हर जगह, हर काल में शासन–सत्ताएँ आवाज़ों को कुचलना चाहती है और आवाज़ का होना भी इसी से सार्थक होता है जब वह हमेशा आलोचनात्मक नज़रिया बनाये रखें। आवाज़ें सत्ता की गुलामी के लिए नहीं है। सत्ताएँ लाख कोशिश करें, वह 'कहने' को नहीं दबा सकती है। 'कहना' क्या है, सम्भवत: इसे पूर्वी–राजस्थान की इस लोक–कथा से बेहतर कोई नहीं समझा सकता –

''बहुत पहले की बात है– कोई लड़की पड़ोसी गाँव में किसी से प्रेम करती थी। वह उससे मिलना चाहती थी और उसके साथ रहना चाहती थी लेकिन गाँव के नियम थे कि आप अकेले में किसी से मिल नहीं सकते। उसे गाँव से बाहर जाने की मनाही थी। लड़की ने इस प्रतिबन्ध का विरोध किया, उसे विरोध के लिए ललकारा गया। वह नहीं मानी। गाँव के सारे साफावालों ने मिलकर फ़ैसला सुनाया– अगर वह गाँव के बाहर जाने की ज़िद करे तो उसे घर में क़ैद कर दो। वह क़ैद कर ली गयी। अब वह छत पर बैठी रहती और पड़ोसी गाँव की ओर देखकर कुछ गुनगुनाती रहती। वे प्रेम–गीत थे। पंच फिर चिन्तित हुए। उन्होंने फिर फ़ैसला लिया कि इसे छत पर ना आने दिया जाय। लड़की को चार दीवारी में बन्द कर दिया गया। वह अब भी नहीं मानी। वह लगातार बोलती थी जिसमें प्रेम के प्रति श्रद्धा और प्रतिबन्ध के प्रति कटुता भरे शब्द होते थे। मुखिया ने घोषणा की– इसकी जीभ काट दी जाय। उसकी जीभ काट दी गयी। कुछ समय बाद ज्ञात हुआ कि लड़की दीवारों पर कंकड़ों से कुछ रेखाएँ उकेरने लगी है और दरअसल वे चित्र हैं जो उसके शब्दों के ही पर्याय हैं। उन चित्रों में फूल–पौधों को काटती हुई तलवारों के बिम्ब थे। इस बार लड़की को अन्धा कर दिया गया ताकि वह कभी रेखाएँ ना बना पाए। लड़की ने नयी कला सीखी, उसकी उँगलियाँ गीली मिट्टी के नन्हें–नन्हें घर, घरोंदे और मूरत गढ़ने लगीं। उनमें भी लोगों को प्रतिरोध दिखाई देने लगा। आखिर उसके दोनों हाथ काट दिये गये। लड़की ने पैरों को इस योग्य बनाया। वह पैरों से रेखाएँ बनानी लगी। उसके पैर काट दिये गये। उसके बाद वह चार–दीवारी के बीच रोती–चीख़ती घिसटती रहती थी, घिसटने से बनती रेखाएँ देखकर भी लोगों को लगता था कि वे अपना विरोध जता रही हैं। अंत में कोई रास्ता नहीं बचा– उन्होंने एक दिन उसे गाँव से दूर ले जाकर उसे ज़िंदा जला दिया। वे गाँव से बाहर ख़ुद लेकर गये, लेकिन सिर्फ़ उसे मारने के लिए, जीते–जी बाहर जाने पर प्रतिबन्ध था। कहते हैं जब उसे जलाया गया तो चिता से ऊपर उठते धुएँ ने भी आकाश में कुछ रेखाएँ बना ली। और वे रेखाएँ उन्हीं रेखाओं से मेल खाती थी जिन्हें लड़की पहले बनाती थी।''

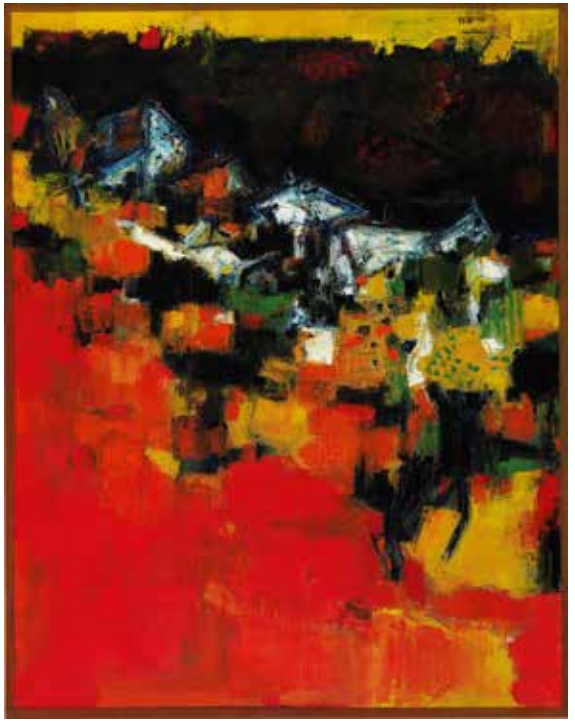

मृत्युंजय प्रभाकर

यूँ तो अभिव्यक्ति हर व्यक्ति को प्राप्त मौलिक अधिकारों में शामिल है लेकिन अपने आप को अभिव्यक्त करना इतना आसान काम भी नहीं है। सामान्य लोग जिन्हें हम आम लोग या 'मैंगो पीपल' के नाम से भी जानते हैं, अपने आप को सही तरीक़े से अभिव्यक्त करने में सक्षम नहीं हैं। बहुत तरह की ताक़तें, बंधनें, ऐतिहासिक–सामाजिक बोझ उनके कन्धों पर है जिनकी वजह से अभिव्यक्त करने की क्षमता और कई बार तो इच्छा का विकास भी उनके भीतर देखने में नहीं आता है। अभिव्यक्ति एक मूल्य है। इसे अर्जित करना पड़ता है। ऐसे में जिन लोगों को अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता हासिल है और जिन्होंने अपने आप को अभिव्यक्त करने का सलीका भी अर्जित कर लिया है वो इसके मूल्य से वाकिफ हैं। वे जानते हैं कि एक मरे हुए देश में अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता एक मौलिक अधिकार से ज्यादा एक साहसी कदम है। इसके अपने खतरे और नुकसान भी हैं। इसलिए ज़्यादातर लोग अपनी अभिव्यक्तियों का सौदा करना पसंद करते हैं। वे अपनी अभिव्यक्ति की अर्जित क्षमता का जबरदस्त इस्तेमाल अपने, लाभ और स्वार्थ की पूर्ति के लिए करते हैं। ऐसे में वह अपनी अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता का इस्तेमाल कुछ इस तरह की कतर–ब्योंत के साथ करते हैं कि साँप भी मर जाए और लाठी भी न टूटे। ऐसे में अपनी अभिव्यक्तियों में यही कटौतियाँ, चुप्पियाँ, चतुराई और चालाकियाँ उनके

काम आती है। वह ख़तरा सूंघकर या नुकसान की भरपूर आशंका का सटीक आकलन करते हुएया तो बोलते हैं या बिलकुल चुप रह जाते हैं। ऐसी जगहों पर जहाँ नुकसान की ज़रा भी आशंका उन्हें दिखती है वह अपने मुँह बन्द रखने में ही बेहतरी समझते हैं।

यूँ तो यह एक ऐसा फेनोमेनन है जो कास्ट, क्लास, जेंडर, रिलिजन, कल्चर की सीमा से परे है। ब्लैक अमेरिकी Thomas Sowell की 'Evolutionary Morality' के सिद्धान्त के आधार पर समझने की कोशिश करें तो वो इसकी दो श्रेणी बताते हैं। पहला है 'Unconstrained Vision' जिसे वह 'Vision of the Anointed' भी कहते हैं के सन्दर्भ में समझ सकते हैं। उनका कहना है कि कोई भी व्यक्ति (जिसे अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता हासिल है और उसने यह कला अर्जित की है– ख़ासकर बुद्धिजीवी) अपनी पैदाइश में एक पूर्ण और पवित्र इकाई है। समाज उसे भ्रष्ट बना देता है। उसे अपनी 'reputation' की फ़िक्र कुछ भी कहने के दौरान नहीं रहती क्योंकि वो जानता है कि ज़्यादातर लोग फैक्ट शीट लेकर नहीं बैठे हैं। और अगर उसकी बात कल को ग़लत भी साबित हो जाय तो लोग उसे याद रखने वाले नहीं हैं। तीसरी बात यह कि वह कोई बात तभी कहेगा जब उसे कोई शारीरिक या दूसरे क़िस्म का कोई नुकसान उससे नहीं है। दूसरी श्रेणी में वह 'Constrained Vision' जिसे वह 'Tragic Vision' भी कहते हैं की बात रखते हैं। इसके अनुसार मनुष्य अपनी प्रकृति में ही अपूर्ण है और समाज उसके काम को आसान बनाने का जरिया मात्र है। इसके लिए वह किसी भी जायज या नाजायज तरीक़े का इस्तेमाल करता है।

हमारा समाज भी ऐसे ही व्यक्तियों से बना है जो अपनी अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता का सौदा कई बार उनमें कटौतियों, तो कई बार ओढ़ी हुई चुप्पियों, या फिर चतुराई और चालाकियों की मार्फ़त करता है।

अंतिम अरण्य

आशुतोष भारद्वाज

जवाहरलाल नेहरु एक ऐसे सेकुलर थे जिन्हें खुद को पंडितजी कहलाना पसन्द था। निर्मल वर्मा एक ऐसे आधुनिक लेखक थे जो जब ईश्वर शब्द को क़ागज़ पर लिखते थे तो उनके "अस्तित्व के गहनतम तल में भाप–सी उड़ने लगती" थी, जिन्हें अपने आख़िरी उपन्यास तक आते में शायद ईश्वर में अन्तिम सहारा दिखलायी देने लगा था।

क्या खुद को पंडितजी कहलाना पसन्द करने से नेहरु का सेकुलर होना खंडित होता था? शायद नहीं। लेकिन क्या यह उनके भीतर के किसी हिन्दू मन को रेखांकित करता था, उनकी कोई भीतरी हिन्दू हसरत जिसे वह खुल कर, अपने पश्चिम के संस्कार और आधुनिक बोध के तहत स्वीकारने से बचते थे? निर्मल के साथ लेकिन ऐसा नहीं था। उन्हें यह स्वीकारने से कतई संकोच नहीं था कि वे हिन्दू थे, बल्कि हिन्दू होने का उन्हें गर्व ही था। लेकिन क्या ईश्वर पर आस्था से उनका आधुनिक लेखक और उससे भी बढ़कर खुद उनकी रचनात्मक मान्यताएँ ख़तरे में पड़ती थीं?

अन्तिम अरण्यं में निर्मल की किसी अन्य रचना से कहीं अधिक ईश्वर शब्द का उल्लेख होता है। उनके पिछले चार उपन्यासों में कुल मिलाकर ईश्वर का ज़िक्र इतना नहीं हुआ जितना इसमें हुआ है। ईश्वर यहाँ मनुष्य के अन्तिम सहारे बतौर आता है, तो उस प्रत्यय बतौर भी जो मन्दिर और अनुष्ठानों में वास करता है। मनुष्य की

आख़िरी मंज़िल, जो उससे अभी बहुत दूर है। यह भौगौलिक दूरी नहीं, बल्कि एक आत्मिक–आध्यात्मिक खाई जिसे पार करने का साहस मनुष्य के भीतर नहीं है।

निर्मल के बारे में अक्सर यह कहा जाता है कि उनके निबन्ध, जहाँ वे भारतीय संस्कृति के पैरोकार नज़र आते हैं, और उनके कथा–साहित्य में बहुत गहरी, लगभग असम्भव खाई है। यह खाई लेकिन अन्तिम अरण्य में मिट गयी है। इसका लगभग हरेक किरदार किसी ईश्वरीय सहारे की तलाश में है। इस उपन्यास की उपमाएँ और आख्यान उसी सहारे के इर्द–गिर्द जन्म लेते हैं।

इस उपन्यास का अन्त बहुत चर्चित हुआ है जब आख्यायक मेहरा साहब की अस्थियाँ सरापा नदी में विसर्जित करने जाता है, लेकिन उससे भी महत्वपूर्ण है वह अंश जब अन्नाजी 'खुद–ब–खुद' तारा देवी के मन्दिर की चढ़ाई चढ़ती जाती हैं, वहाँ दीवा का अलौकिक हाथ अपने ऊपर पाती हैं। दिलचस्प यह है कि इस दृश्य के दोनों किरदार ईसाई हैं, जो अपनी अन्तिम शरणगाह किसी चर्च नहीं तारादेवी के मंदिर में पाते हैं। चर्च निर्मल का प्रिय बिम्ब और रूपक रहा है जिसके इर्द–गिर्द उन्होंने अपनी कई कथाओं को बुना है, लेकिन इस उपन्यास में, जोकि लेखक की कई अनेक कथाओं की तरह किसी पहाड़ी कस्बे में स्थित है, अँग्रेज़ों के ज़माने के क्लब इत्यादि तो हैं लेकिन चर्च नहीं है।

उपन्यास निश्चित ही एक बहुध्वन्यात्मक भूमि पर घटित होता है। इसके किरदारों की मान्यता ज़रूरी नहीं कि लेखक भी साझा करता हो। लेकिन इस उपन्यास में ईश्वर का प्रत्यय किसी बहुध्वन्यात्मकता की गुंजाइश नहीं देता। इस ईश्वर की सत्ता पर कोई प्रश्न यह उपन्यास नहीं करता, बल्कि खुद को इसके समक्ष समर्पित कर देता है।

जॉर्ज लूकाच ने लिखा था कि विश्व साहित्य का पहला महान उपन्यास उस समय पैदा हुआ था जब क्रिश्चियन ईश्वर ने दुनिया को छोड़ दिया था। मिलान कुंदेरा का मानना था कि उपन्यास ईश्वर के अट्टहास से जन्मा था।

अन्तिम अरण्य दो प्रमुख सवाल करता है। क्या ईश्वर पर आस्था किसी रचना को कम आधुनिक बनाती है? क्या बिना ईश्वर का त्याग कियें भी आधुनिक हुआ जा सकता है?

दूसरा प्रश्न खुद लेखक पर है। लेखक मानता रहा है कि किसी रचनाकार के लिए भौतिक या आध्यात्मिक शरणगाह गड्ढे की तरह है। क्या ईश्वर के इस अन्तिम अरण्य की शरण लेखक के लिए गड्ढे की तरह है, उसके आगामी रचनाकाल के लिए न भी सही, कम से कम इस उपन्यास के लिए?

आस्तीक वाजपेयी

1-

फीनिश संगीतकार सिबेलियस की महान टेपियोला की संरचना थोड़ी अजीब है। शुरुआत से ही केवल एक धुन संगीत की बुनावट पर हावी रहती है और अन्त तक ऐसा ही रहता है। चरमोत्कर्ष (क्लाइमेक्स) का आभास होता ज़रूर है पर अन्त में आकर वह धुन या थीम की ख़ामोशी में विलीन हो जाती है।

निर्मल वर्मा के आख़िरी उपन्यास 'अन्तिम अरण्य' की बुनावट भी सिबेलियस के टेपियोला की तरह है। पूरा उपन्यास अलग–अलग धुरियों पर घूमता है : आख्याता और मेहरा जी, मेहराजी और मुरलीधर, आख्याता और तिया आदि ऐसी ही कुछ धुरियाँ हैं। इन सभी धुरियों का कोई क्लाइमेक्स नहीं है। जैसे उपन्यास के अन्त में जब मेहरा जी नहीं रहते, एक व्यक्ति के बार–बार यह पूछने पर कि वे आख्याता के क्या लगते थे, वह खुद से यह प्रश्न पूछता है : उनका मेरे साथ क्या सम्बन्ध है? निर्मल वर्मा किसी भी नतीजे पर पहुँचने से बचते हैं ताकि पाठक खुद अपने नतीजे बना सके और लेखक के आरोपित नतीजों को ढोने पर मजबूर न हो। एक हद तक तो हर पाठक लेखक के विचारों को ढोता ही है पर निर्मल वर्मा अपने पाठक पर उस बोझ को कम कर देते हैं। एक तरह से इससे उस पाठक को कठिनाई भी होती है जिसे पके–पकाये नतीजों को किताब से आँखों की चम्मच डालकर बिना संकोच खाने की आदत पड़ गयी है। ऐसे पाठक के सामने यह उपन्यास मुश्किल पैदा कर सकता है।

2-

'अन्तिम अरण्य' में इनर्शिया है। इस अँग्रेज़ी शब्द के लिए हिन्दी शब्दकोश में जड़त्व और निष्क्रियता दिये हुए हैं जो मुझे उचित नहीं लगे लिहाज़ा इस लेख के लिए मुझे इनर्शिया ही ठीक लगा। 'अन्तिम अरण्य' में इनर्शिया इसलिए है क्योंकि पूरे उपन्यास के किरदारों पर प्रकृति हावी रहती है। हावी रहने का अर्थ यह है कि यहाँ किरदारों की आन्तरिक सच्चाई का एक महत्वपूर्ण आयाम प्रकृति है। जब आख्याता पहली बार अन्ना जी या निरंजन बाबू से मिलने जाता है या जब वह तिया के साथ पानी भरने जाता है या जब मेहराजी स्मृति भ्रंश के कारण अलग–अलग जगहों पर पाये

जाते हैं, घटना का मुख्य आयाम या कहें स्वयं घटना ही प्रकृति बन जाती है। उपन्यास पढ़ने के बाद आपको इस बात पर भले ही कोई भी दावा करने में संकोच हो कि मेहरा जी ने तिया की माँ को मारा था या नहीं पर यह बताने में आपको कोई परेशानी नहीं होगी कि उपन्यास की कोई घटना कहाँ घट रही है। यहाँ मज़े की बात यह है कि हर पाठक प्रकृति का वर्णन अलग तरह से करेगा पर सबको यह पता होगा कि वह जगह जहाँ कोई घटना घटी है, कहाँ थी। इसका आशय यह है कि अपने उपन्यासों में प्रकृति की केन्द्रियता होने के बावजूद निर्मल वर्मा अपने पाठक को उसे अपनी तरह से देखने की स्वतन्त्रता देते हैं।

प्रकृति निर्मल वर्मा के इस उपन्यास में एक किरदार है, एक ऐसा किरदार जो बाक़ी किरदारों की तरह ही सम्पूर्ण अनुभव से बचता है। सम्पूर्ण अनुभव का अर्थ वह अनुभव है जो पाठक और लेखक दोनों के लिए एक–सा हो। इससे उपन्यास में ऊब उत्पन्न होती है।

3-

इस उपन्यास की लय का रहस्य इस बात में है कि इसके प्रकृति समेत सारे किरदारों में जितना सामर्थ्य या जितनी उनमें सम्भावना है, वे उससे कुछ कम ही प्रकट करते हैं। इसका अर्थ यह है कि जैसे जीवन में हमारी सामर्थ्य की समूची सम्भावना को हमारे संयम के कारण प्रकट होने का अवकाश नहीं मिल पाता वैसे ही निर्मल वर्मा के प्रकृति समेत सभी किरदार अपनी सामर्थ्य की सम्भावना को अपने संयम में बाँधकर रखते हैं।

अन्ना जी उपन्यास की सम्भवत: सबसे कम अन्तर्मुखी किरदार हैं। सबसे अधिक बेबाक। वे जिस तरह अपने, तिया और मेहरा जी के बारे में बताती हैं वैसा उपन्यास में कहीं और नहीं होता। पर वे भी तिया के बारे में ज़्यादा बात तिया से नहीं, आख्याता से करती हैं। आख्याता मेहरा जी के पास इतना समय रहने के बाद भी, उनके अतीत में दिलचस्पी लेने के बाद भी अपनी ओर से मेहरा जी से कुछ नहीं पूछता। वह उतना जानकर रह जाता है जितना मेहरा जी खुद उसे बताते हैं। वह उन्हें जानने और न जानने के बीच उसी तरह असमंजस में फँसा रहता है जैसे तब जब वह प्रकृति के सामने होता है। आख्याता के लिए मेहरा जी मानो प्रकृति का ही रूपक हैं।

'अन्तिम अरण्य' के किरदारों को खुद की सच्चाई पर यक़ीन नहीं है इसलिए वे दूसरे की या प्रकृति की सच्चाई को चुनौती देने या उसे इस तरह समझने से बचते हैं कि वे उससे बेहतर हो सकते हैं। विवेक के इस रूप को महान रूसी प्यानो वादक एमिल जाइलिल्स को सुनकर समझा जा सकता है। उनके बजाने में शक्ति का भाव है, ओज़ है लेकिन सुनने वाले को (कम–से–कम इस सुनने वाले को) उनकी जो बात प्रभावित करती है वह यह है कि वे जितना तेज़ या ऊँचा बजा रहे होते हैं इससे कहीं ज़्यादा तेज और ऊँचा बजा सकते थे। अगर वे चाहते तो वे एक्सलेराँदी को ज़्यादा तेज़ कर सकते थे, रिटार्डेंडी को ज़्यादा धीमा। उनकी तकनीक में यह सामर्थ्य थी पर वे तकनीक का उपयोग संगीत की अपनी विशिष्ट दृष्टि को उद्घाटित करने के लिए करते थे, आत्म प्रदर्शन के लिए नहीं। निर्मल वर्मा के किरदारों के बारे में हम कह सकते हैं कि वे उन्हें रचते हुए अपनी शक्ति या सामर्थ्य का इसी विवेक से इस्तेमाल करते हैं। किसी भी बड़े कलाकार वे जाइलिल्स हों या निर्मल वर्मा, की कलाकृति में कला कौशल या तकनीक कलाकार की जीवनदृष्टि के अधीन सक्रिय होती है, उसका स्वतन्त्र अस्तित्व पाठक या श्रोता को महसूस नहीं होता।

4-

निर्मल वर्मा अपने उपन्यास में चरित्रों की आपसी बातचीत या उनकी सोच का विवरण देते समय बहुत कुशलता से बीच में ही कहीं प्रकृति का वर्णन करने लगते हैं, इससे इस बातचीत या सोच का समूचा वर्णन करने को वे स्थगित करते जाते हैं। अपनी बात पूरी हो पाये, इससे पहले ही आख्याता उपन्यास में कई स्थानों पर प्रकृति के विषय में सोचने लगता है या फिर उपन्यासकार प्रकृति का वर्णन करना आरम्भ कर देता है।

उपन्यास के इक्कीसवें पन्ने पर जब आख्याता मेहरा जी से बात करने के बाद बाहर निकलता है तो उसके कमरे के रास्ते तक हवा के एहसास का वर्णन कर या तारों और पेड़ों के बारे में लिखकर निर्मल वर्मा आख्याता की अनिश्चित मन: स्थिति को महफूज़ बनाये रखते हैं।

डॉक्टर सिंह और आख्याता का पहला संवाद भी इसी तरह की 'प्राकृतिक' अनिश्चितता के घेरे में आ जाता है। उनके क्लब से बाहर निकलते ही प्रकृति का वर्णन उस प्रसंग को मानो किसी हद तक रूपान्तरित कर देता है, उसमें अनिश्चितता की बयार को प्रवाहित कर देता है। इसका सबसे बड़ा उदाहरण उपन्यास के अन्त में आता है जब अस्थियों को विसर्जित करते हुए आख्याता अपने और मेहरा जी के सम्बन्ध में सोचता है। उपन्यास में उसी समय निर्मल वर्मा, नदी और फिर कौओं का वर्णन करते हैं। सम्भवत: इन मार्गों से लेखक यह दर्शाने की चेष्टा करते हैं कि मनुष्य केवल अन्य मनुष्यों से ही नहीं बल्कि प्रकृति से भी सार्थक संवाद करता है। हमारे जीवन की तरह ही इस महान उपन्यास के किरदारों के जीवन में भी सच्चाई किसी एक के द्वारा परिभाषित नहीं होती। वह ऐसा होने से निरन्तर बचती रहती हैं। जिन्हें अपनी और अपने समय की सच्चाई पर कुछ अधिक ही यक़ीन हों, वे इस उपन्यास को समझ सकेंगे, इस पर मुझे शक होता है।

प्रवीण कुमार

निर्मल ने अन्तिम अरण्य के सन्दर्भ में एक टीवी साक्षात्कार में कहा था कि इस उपन्यास के मूल कथ्य और ट्रीटमेंट को लेकर उनकी कोई सजक धारणा पहले से नहीं रही, उन्होंने बस यह दिखाने को लेकर इस उपन्यास को शुरू किया था कि जो लोग निचले मैदान छोड़कर पहाड़ों पर आ बसते हैं वह जीवन–मृत्यु, छूटे हुए पारिवारिक– सामाजिक रिश्तों, एकांत और स्मृतियों को कितने कोणों से देखते हैं। इच्छा और स्मृति के महत्वपूर्ण दो किनारों के बीच एक दिन बूढ़े मेहरा साहब गुज़र जाते हैं, उपन्यास फिर भी अगले चालीस पन्नों तक मेहरा साहब की राख लिए चलता रहता है, जिसका निचोड़ है' मृत्यु एक घटना है, वह सिर्फ़ बर्फ की तरह सुन्न कर देती है। पीड़ा बाद में आती है, काल की तपन में बूँद–बूँद पिघलती है'। लेकिन यह नरेटर की धारणा है, मेहरा साहब की अनुपस्थिति की सघन उपस्थिति। पर मेहरा साहब तो बहुत पीछे छूट गये हैं, वही मेहरा साहब जिनको केवल उनके वक्तव्यों से ही नहीं बल्कि उनकी मामूली दिखने वाली हरकतों और काल के प्रवाह में राख होती इच्छाओं–अनिच्छाओं से समझा जा सकता है। अपने अपने अन्तिम अरण्य या दूसरों के अन्तिम अरण्य को लेकर नरेटर या निरंजन बाबू, डॉक्टर सिंह, चौक़ीदार मुरलीधर, बूढ़ी जर्मन महिला या खुद मेहरा साहब की बेटी तिया की राय क्या है, वे सबके सब मिलकर मेहरा साहब के बारे में क्या राय रखते हैं इसे जानने से ज़्यादा ज़रूरी है मेहरा साहब की उन बेचैनियों को जानना जो देह के राख होने से पहले की हैं – ''सुनो, जिसे हम पीड़ा कहते हैं, उसका जीने या मरने से कोई सम्बन्ध नहीं है। उसका धागा प्रेम से जुड़ा

होता है, वह खिंचता है, तो दर्द की लहर उठती है"। यहाँ भी मेहरा साहब दो हिस्सों में हैं, एक में जहाँ शरीर अभी अशक्त नहीं हुआ है और स्मृतियाँ इच्छाओं को दबाते–उछालते मन के खोह में ठण्डी पहाड़ी हवाओं की तरह घुसे जा रही है; दूसरे मेहरा साहब वह हैं जहाँ देह अशक्त है और स्मृतियाँ भी गड्डमड्ड हो गई हैं या बिलकुल ग़ायब– पर इच्छाएँ (या कोई एक इच्छा) बची हुई हैं। पहली अवस्था में नरेटर मेहरा साहब के मन के बहुत पास है, दूसरी अवस्था में मुरलीधर अपने साहब की देह के बहुत पास है। यह दूसरी अवस्था ही नरेटर को दूर करके 'अन्य' पात्रों में तब्दील कर देती है। नरेटर के 'अन्य' होने से ठीक पहले 'अन्तिम अरण्य' का वास्तविक भूगोल है।

अंतिम अरण्य उपन्यास ना तो 'बुढ़ापे का उत्सव' है और ना ही 'मरने और सहने की कला' है जहाँ मृत्यु–बोध को लयात्मक ढंग से ज़्यादातर देखा गया है। यहाँ गरुड़ पुराण या प्राचीन हिन्दू परंपरा के पुनर्वास की दावेदारियाँ भी नहीं। अलबत्ता यह उपन्यास निर्वेद भाव से इतर संसार को अलविदा करते एक ऐसे शख्श 'मेहरा साहब' की कथा है जिसमें जीवन और जगत के बारे में मेहरा साहब के खुद के वक्तव्य कम और अन्य पात्रों के कथन ज़्यादा हैं। यहाँ मेहरा साहब कम हैं और अन्य ज़्यादा। हिन्दी आलोचना में इन्हीं 'अन्य' पात्रों के कथन और समझ से जो अवधारणा बनी है वह या तो इस उपन्यास के मूल–कथ्य को ग़ैर–धार्मिक अध्यात्म की ओर मोड़ती है या एक कमज़ोर और बारीक धार्मिक आस्था का पुनरुत्थान मानकर ख़ारिज करती है।

मनुष्य कोरा नहीं मरता, उसके मन पर बहुत कुछ लिखा होता है–उसके अपने जिए हुए जीवन का दबाव, मोह और पछतावे सबके सब। वह उस लिखे को साथ लिए मरता है। यही संसार है और इसी के सम्बन्धों के तानेबाने में स्मृति व इच्छा सहित मृत्यु। स्मृति सम्बन्धों की गरमाहट का सबसे बड़ा रचनात्मक 'टूल' है निर्मल के लिए। निर्मल हमेशा यह मानते रहे कि जीवन वही नहीं है जो केवल जैविक या भौतिक रूप से जिया जाता है, उसमें स्मृति, कल्पना, विचार उतने ही ठोस हैं जितना कि साँस लेना या किसी बस का इंतज़ार करना। ये तमाम चीज़ें कम से कम इस उपन्यास में किसी अनुभूति और सम्बन्ध से सन्दर्भित हैं। दरअसल उपन्यास में 'सही जगह' की तलाश आधुनिकता की समूची विकास यात्रा की पुनर्व्याख्या की माँग की वजह से भी है। 'सही' की तलाश एक बहुत बड़ा मुद्दा भी है व्यक्ति से लेकर समाज के विकास तक। क्या पा रहे हैं और क्या खो रहे हैं के बीच? कहना न होगा कि ये तमाम प्रश्न और एहसास एक ख़ास तरह की भाषा की माँग करते हैं जिन्हें निर्मल ही अब तक साधते आये हैं। पर यहाँ कुछ ऐसा घटा है जो चिरपरिचित निर्मल की दार्शनिकता को दरेरकर आगे सरक जाता है– वह चीज़ है मेहरा साहब के एकान्त, प्रकृति, स्मृति और इच्छा का ठोस ढंग से सन्दर्भित होना। इस लिहाज़ से हम इस उपन्यास को लेखक के अतिरिक्त दार्शनिक आरोपण को पछाड़ते हुए 'कौवे और कालापानी' के शून्य–संदर्भ से आगे निकलते हुए देख सकते हैं। एक सकुचाई चाह है –तिया के लिए, तिया की माँ के लिए या कहें मेहरा साहब की त्यागी गयी पहली पत्नी के लिए जो नवजात तिया को उनके की चौखट पर छोड़कर न जाने कहाँ है गुम हो गयी थी, उस दूसरी पत्नी के लिए– जो क़ब्र में सो रही है, अंतिम क्षणों में पक्षाघात के पहले मेहरा साहब का बेपरवाह होकर घूमना, पहाड़ के परिचित जगहों में जर्जर देह के साथ बार–बार जाना, उधार दी गयी या बहुत पहले पढ़ी हुई किताबों को याद करना और अन्त में लगाव ग्रस्त देह का ज़ोर लगाकर अन्तिम बार उठाने की असफल कोशिश करना– यह जीवन के लक्षण हैं– मृत्यु छाया में जीवन का भ्रमण। तिया से मिलना, तिया की उपस्थिति में मेहरा साहब और अनुपथिति में मेहरा साहब– दोनों मेहराओं में बहुत फ़र्क़ है। यहाँ एक संकोच के साथ इच्छा है उस सम्बन्ध को निभाने की जो तिया की माँ के साथ नहीं निभ पाया– "जो लोग तुम्हें प्यार करते हैं, वे तुम्हें

कभी माफ़ नहीं करते"। यहाँ हैं असली मेहरा साहब। मुरलीधर कहता है "बाबू, मैं उन्हें बचपन से जानता हूँ, लेकिन जैसे वह अब हैं, वैसा कभी नहीं देखा था"। मेहरा मुरलीधर को आधी रात में उठकर बुलाते हैं और पूछते हैं कि 'कौन दरवाज़ा खटखटा रहा है', वहाँ होता तो कोई नहीं है पर मेहरा साहब किसकी आस लगाये हैं? वह कोई हो, पर एक आस तो है ही।

नरेटर उनकी कही–अनकही स्मृतियों को जहाँ दर्ज़ कर रहा है उसे ख़ुद मेहरा साहब 'रजिस्टर' कहते हैं। अधिकारी के लिए 'रजिस्टर', माने जहाँ हर चीज़ बहुत ठोस होती है। और जो चीज़ दर्ज़ नहीं हो पा रही है उसका नरेटर बस अंदाज़ा भर लगाता है, दर्ज़ करने वाले नरेटर को कई बार यह लगता है कि संसार छोड़कर जाता हुआ यह आदमी कुछ–कुछ बुदबुदाता है और उसके साथ ऐसा कोई और है जो दिखायी नहीं दे रहा पर वह शायद मेहरा साहब की अनकही बातें दर्ज़ कर रहा है जिसे वह अब तक दर्ज़ नहीं कर पाया। यही से नरेटर की कुछ अवधारणा विकसित होती है और उपन्यास ख़त्म होता है। जो शेष चालीस पन्ने हैं वह नरेटर, लेखक और दिवंगत मेहरा साहब के त्रिकोणीय रिश्ते की एक अलग दार्शनिक गाथा है। पर असली सवाल है कि क्या मनुष्य के सम्पूर्ण को कोई दूसरा दर्ज़ भी कर सकता है? पूरा का पूरा? मनुष्य अपने आप में एक 'यूनिक' उपस्थिति है जिसके सारे रहस्यों का दस्तावेज़ी विवरण सम्भव नहीं। एक यही चीज़ किसी मनुष्य के 'व्यक्ति' होने का मार्मिक एहसास दे जाती है। स्मृति और इच्छा, कही–अनकही, सुलझी–अनसुलझी के दो किनारों के बीच इस उपन्यास के स्वतन्त्र पाठ को अध्यात्म चीरती हई स्मृति, सम्बन्ध और छूटते संसार के मोह–अमोह भरी दास्तान के रूप में पढ़ा जाना चाहिए।

बाबुषा कोहली

मुझे याद आता है कि पहली बार ''अन्तिम अरण्य'' पढ़ते हुए मैं किस कदर उदास हो गयी थी। न जाने क्यों, मुझे यह अपने प्रिय लेखक का अन्तिम अरण्य लग रहा था। यूँ तो एक घना एकान्त निर्मलजी के पूरे लेखन में उपस्थित रहता है। एक ऐसा एकान्त, जो आपको उदास नहीं करता, बल्कि उस एकान्त में निर्मलजी के चरित्रों के साथ दूर तक टहलने की इच्छा होती है। ये किरदार भीड़ और कोलाहल में भी अपना निजी स्पेस और चुप्पी रच लेते हैं।

लेकिन ''अन्तिम अरण्य'' ऐसा नहीं है। वह उदास, ढलते दिनों की कविता है। इसके शुरू में जैसे मृत्यु की छाया मंडराती रहती है। बाद में मृत्यु आती भी है––उसके बाद मुक्ति का उपक्रम है। एक तरह से निर्मलजी के समूचे लेखन की तरह यहाँ भी गहरा और उतना ही हैरान कर देने वाला अवसाद है, जो धीरे–धीरे चुप्पियों को आत्मसात् करने लगता है। एक ऐसी जगह पर होना पाठक को निश्चिन्त करता है जो शायद कहीं न कहीं उनके भीतर भी बसती है और जिस जगह को वो ख़ुद छूते हुए डरते हैं। लेकिन निर्मल के पात्रों में उन्हें आसरा मिलता है, एक धूप मिलती है जिसमें मन और आत्मा का हर हिस्सा अपनी जमी हुई ठण्ड से छुटकारा पा लेता है। यही ख़ुद से मुक्ति की आस है जो निर्मलजी के लेखन में बार–बार प्रकट होता है और हर बार पाठक के हृदय को कोसी बारिश में भिगोता रहता है। क्या उन्हें पढ़ने वाला कभी इस दोहराव से दूर जाना चाहता है? नहीं! क्योंकि यह दोहराव उनके होने को हर बार पुख़्ता करता है, हर बार उन्हें आश्वस्ति की ओर ले जाता है।

यह ''लाल टीन की छत'' या ''एक चिथड़ा सुख'' या ''वे दिन'' की तरह शुरुआतों की कहानी नहीं है। यह कुछ पाने की चाहना और छूटने के द्वन्द्व या उसकी कसक से पैदा हुई कहानी नहीं है। यह सब कुछ छोड़ कर धीरे–धीरे चले जाने की कहानी है। मैं सोचती थी कि क्या निर्मल वर्मा अपनी ही कहानी लिख रहे हैं? क्या उन्होंने अपने समक्ष, अपना ही अक्स रचा है? फिर स्मृति की एक लय पकड़ी और जाना कि कौन सी कहानी ऐसी है जो उनकी अपनी नहीं है, जिसमे एक छाया नहीं है उनकी। उनकी आवाज़ और दृष्टि नहीं है?

यह उनका अपना जादू है, अपना तरीक़ा भी है जो उस क़िस्से से उनको अदृश्य कर देता है और उसे सबकी दास्तान में बदल देता है।

''अन्तिम अरण्य'' में भी निर्मल वर्मा यही खेल करते हैं। हम सोचते हैं कि यहाँ पात्र अपने संवादों में जीवन के गहनतम दर्शन से कथा को आगे बढ़ा रहे हैं। कथा, जिसमें बहुत लोग अपने आधे–अधूरे जीवन की परछाइयाँ देखते हैं। लेकिन दरअसल वह कथा हर समय हमारे भीतर हमारे ही अन्तर्मन का एक हिस्सा होती है। फिर चाहे वह मिस्टर मेहरा की कथा ही क्यों न हो। मिस्टर मेहरा और स्टेनो के बीच वे कथावाचक के लिए स्टेनो को चुनते हैं। यह कथावाचक अपने नायक को बड़ी बारीक़ी से देखता है। उसके पास जैसे एक पारदर्शी आँख है और उस पारदर्शी आँख में उसने कुछ बेहद ज़रूरी सहेज लिया हो ज्यों हमारी नानियाँ–दादियाँ काँच के मर्तबानों में अचार रख देती थीं, जिन्हें अपने बचपन में हम दिनों–दिन तक भोजन के साथ खाया करते थे। मि. मेहरा के सूत्र उनके स्टेनो की काँच की आँख में रखे हुए हैं, जिससे उनके पाठकों में जीवन का स्वाद बढ़ता ही है।

उपन्यास की शुरुआत ही बड़ी महीन बन पड़ी है। जब कथावाचक कहता है–– ''कभी–कभी मैं सोचता हूँ कि जिसे हम अपनी ज़िन्दगी, अपना विगत और अपना अतीत कहते हैं, वह चाहे कितना यातनापूर्ण क्यों न रहा हो, उससे हमें शान्ति मिलती है। वह चाहे कितना ऊबड़खाबड़ क्यों न रहा हो, हम उसमें एक संगति देखते हैं। जीवन के तमाम अनुभव एक महीन धागे से बिंधे जान पड़ते हैं।''

मेरे लिए जैसे यहीं से उपन्यास की लय तय हो जाती है। मुझे लगता है जैसे मैं उपन्यास के बारे में जान गयी हूँ. मैंने उस दृष्टि को उसकी जड़ों से पहचान लिया हो जिसमें निर्मल ने देखा होगा। मैं निर्मलजी की वह उँगली भी पहचानती हूँ, जिसे पकड़ कर पहले भी कितनी सुनसान रातों में चलती रही हूँ। यूँ लगता है मानो पहले भी उनके पात्रों से मैंने लम्बी बातें की हों, अनदेखी मुलाकातें की हों। और उनके साथ मीलों चलते हुए मैंने उन बातों पर कभी एक क्षण के लिए सोचा न हो। बल्कि वो सब हवा की तरह मेरी शिराओं में बहती रही हों लेकिन निर्मल यहाँ भी जादू करने से चूकते नहीं। कहानी वही रहते हुए भी बदल जाती है। उसकी लय वही है, उसका टोन वही है, लेकिन कथा–सूत्र बिल्कुल अलग है।

अचानक मैं देखती हूँ कि जो कहानी जीवन के अन्त की है, जिस कहानी में जीवन सिमटते हुए एक गहरी डूब निर्मित करता है दरअसल वह मुड़ कर जीवन की पुनर्रचना कर रहा है। मिस्टर मेहरा ने जो जीवन जिया है, उससे अलग एक जिए हुए जीवन की कल्पना वे कर रहे हैं। हम सब जो जीवन जीते हैं, उसमें शायद बहुत उलट फेर चाहते हैं। चाहते हैं कि एक मौक़ा मिला होता तो किसी और ढंग से जीने की कोशिश की होती या कुछ चीज़ों को अपने जीवन से सदा के लिए हटा लिया जाता। जो लोग हमारे जीवन में अनायास ही चले आये हों उनकी पुष्टि भी ऐसे समय में की जा सकती थी। पर क्या ऐसा सम्भव हो पाता है? ऐसे ही न जाने कितने प्रश्न निर्मल हमसे करते हैं।

मिस्टर मेहरा शायद एक स्तर पर जीवन के साथ यह खेल करते हैं–– कथावाचक को हैरान करते हुए।

यह उपन्यास मैंने बहुत पहले पढ़ा था। अब बहुत ज़्यादा स्मृति उसकी बची नहीं है। इतना याद है कि मिस्टर मेहरा के नहीं रहने के बाद उनकी मुक्ति का जो कर्मकाण्ड है, वह मुझे उपन्यास में बहुत प्रिय नहीं था। निर्मल की सारी आध्यात्मिकता के बावजूद मुझे यह बहुत अनिर्मलीय लगा था। लेकिन उसका भी शायद अपना एक अर्थ रहा होगा। इस पक्ष ने भी जीवन में कभी न कभी आहुति दी होगी और अन्तत: यह उपन्यास इस कर्मकाण्ड से ऊपर उठ जाता है और मुक्ति की विकलता से आगे एक करुण अनुभव में बदलता है।

दरअसल निर्मल वर्मा जीवन की बात करें या मृत्यु की–– वह कभी इकहरी–अकेली बात नहीं होती। मृत्यु में भी जीवन की स्मृति बसी होती है, जीवन में भी मृत्यु की छाया होती है। बल्कि उनकी लिखाई में यह बात कितने स्पष्ट रूप से सामने आती है कि मनुष्य के जन्म के साथ ही मृत्यु भी जन्म ले लेती है।

उनके पात्रों की चुप को पकड़ती हुई एक बिन्दु भाषा उनके वाक्यों में जहाँ–तहाँ देखने को मिलती है। अल्पविराम और पूर्णविराम से इतर वाक्यों के बीच बिन्दुओं की कतार जैसे कुछ कहना चाहती हो, पर एक हिचक, एक संशय–सा हो और अनुभव को ठीक–ठीक पकड़ने की कोशिश करती दिखती भाषा अचानक ही जैसे अनुभवों का रेशा–रेशा खोल देती हो। उनका निरा बिम्बात्मक गद्य भी अचानक इतना पारदर्शी हो उठता है कि उसकी रोशनी में उनके चरित्र जैसे बिल्कुल उघड़ जाते हैं–– अपनी जटिलताओं और सरलताओं दोनों का राजफ़ाश करते हुए या यूँ कहें कि जिन जटिलताओं में वे अपने पात्रों को बातों–बातों में एक लम्बी यात्रा पर ले आते हैं, उन्हें वे धीरे–धीरे अपने खोल से बाहर ले आते हैं। और तब शुरू होती है एक नयी यात्रा। निर्मल के हर पात्र को इस अवश्यम्भावी यात्रा से गुज़रना ही होता है।

मिस्टर मेहरा ऐसे ही सरल और जटिल चरित्र हैं। ज़रूर उनमें कुछ है जिसकी वजह से यह उपन्यास मेरी स्मृति में इतने गहरे धँसा हुआ है।

यूँ तो इस उपन्यास में कितनी ही पंक्तियाँ हैं, प्रसंग हैं, जो जीवन के नये–नये सूत्रों का उद्घाटन करती हैं, किन्तु समयाभाव के कारण यह व्यवहारिक रूप से सम्भव नहीं कि वे सभी यहाँ उद्धृत किये जा सकें। अपनी बात समाप्त करने के पहले मि. मेहरा की कही एक बात ज़रूर साझा करना चाहती हूँ जो किसी भी संवेदनशील व्यक्ति की विचार–प्रक्रिया को अस्त–व्यस्त कर देने के लिए काफ़ी है। वे कहते हैं,

''मृत्यु कोई समस्या नहीं है, अगर तुमने अपनी ज़िन्दगी शुरू न की हो। लगता है, तुम कितनी आसानी से वहाँ लौट सकते हो, जहाँ से तुम आये हो। तुमने देखा होगा, जितनी आसानी से युवा लोग आत्महत्या कर लेते हैं, बूढ़े लोग नहीं...वे जीने के इतने अभ्यस्त हो चुके होते हैं कि उससे बाहर निकलना दूभर जान पड़ता है। मौत से ज़्यादा ख़ौफ़नाक यह बात है कि तुम कभी मरोगे नहीं, हमेशा के लिए जीते जाओगे! है न भयानक चीज़?''

मलयज की आलोचना

उमाशंकर चौधरी

मलयज ने कहानियाँ भी लिखी हैं और समीक्षाएँ भी। वैसे समीक्षाओं को वे आलोचना की श्रेणी में ही रखते थे। लेकिन मलयज विशेष रूप से अपनी आलोचना, कविताएँ और अपनी डायरी के लिए जाने गये। मलयज को प्राथमिक रूप से इन तीनों विधाओं में से किसका लेखक माना जाय यह एक कठिन सवाल है।

अक्सर लोगों ने मलयज को प्रमुख रूप से आलोचक माना है। और ऐसे लोग उनकी डायरी में भी आलोचना के तत्व ढूंढ लेते हैं। और इस तरह से मलयज के लेखकीय व्यक्तित्व के मोटे–मोटे दो रूप बनते हैं– एक आलोचक मलयज और दूसरे कवि मलयज।

लेकिन मुझे मलयज को पढ़ते हुए ऐसा लगा कि मलयज मूल रूप से कवि हैं। उनकी आलोचना उनकी कविताओं को स्पष्ट करती और व्याख्यायित करती हुई सी प्रतीत हुई। ऐसा लगा जैसे मलयज ने जो पहले कविताओं में सोचा और फिर अपनी कविताओं में सोची हुई बात को अपनी आलोचना में विश्लेषित किया। मलयज को पढते हुए ना जाने क्यों अचानक से वड्र्सवर्थ की याद हो आयी। मैं यहाँ वड्र्सवर्थ और मलयज की कवि रूप में कोई तुलना नहीं कर रहा हूँ परन्तु हाँ इन दोनों में कुछ साम्य तो अवश्य है। जब कालरिज और वड्र्सवर्थ ने सम्मिलित रूप से अपनी कविताओं का संकलन लिरिकल बैलेड्स निकाला था तब उसकी एक छोटी सी भूमिका वड्र्सवर्थ ने लिखी थी जो क़ाफी विवादास्पद रही। कई सवाल उठे और वड्र्सवर्थ ने बाद में एक लम्बी भूमिका अगले संस्करण में लिखकर उसका जवाब दिया। जिसे रोमंटिसिज्म का प्रीफेस भी कहा गया। बाद के दिनों में कॉलरिज ने अपनी असहमति दिखाते हुए उससे अपने को अलग कर लिया। यही वह प्रस्थान बिन्दु है जहाँ से कॉलरिज ने पाश्चात्य दर्शन में कल्पना का पूरा एक सिद्धान्त दिया है।

वड्र्सवर्थ चूंकि मूलत: एक कवि थे इसलिए वे सिर्फ़ उतनी ही बात कह पाये या उसी तरह से ही अपनी बात कह पाये जो उनकी कविताओं के बचाव में थीं। लेकिन कॉलरिज मूलत: एक कवि नहीं होकर एक आलोचक थे इसलिए उन्होंने आगे चलकर एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त दिया। यह अलग बात है कि वड्र्सवर्थ की बहुत सी बातों को ग़लत व्याख्यायित करके या आंशिक रूप से व्याख्यायित करके अर्थ को बदलने की कोशिश भी की गयी।

वड्र्सवर्थ ने जिस तरह पहले अपनी कविताएँ लिखीं और फिर उन कविताओं के समर्थन में कई सारे तर्क दिये मलयज को पढ़ते हुए इसलिए वड्र्सवर्थ की याद हो आयी।

जैसा कि हम सब जानते हैं कि मलयज इलाहाबाद में लम्बे समय तक रहे और परिमल से गहरे रूप से जुड़े रहे। परिमल से जुड़ने के कारण उन पर कलावादी होने का आरोप भी लगा। और यह कोई मैं नहीं कह रहा हूँ बल्कि बहुत सारे आलोचकों ने ऐसा माना है। मलयज कलावादी थे या नहीं यह एक विवाद का विषय है। और सही बात तो यह भी है कि कलावादी कहा ही किसे जाता है? हाँ अगर शब्दों के उलझाव या अपने शब्दों और भाषा की दुरूहता के कारण कोई लेखक कलावादी होता है तब तो मैं भी कहूँगा कि मलयज कलावादी थे या नहीं लेकिन यह विवाद बेबुनियाद नहीं है। हाँ, मलयज एक दुरूह आलोचक हैं इसमें कोई शक नहीं है।

लेकिन अगर कलावादी होना इसे भी कहते हैं कि जहाँ शब्द तो बहुत हों लेकिन मनुष्य का जीवन नहीं तो मैं मलयज को कलावादी मानने का विरोध करूँगा।

वास्तव में मलयज मनुष्य की चिन्ता करने वाले आलोचक थे। या इसे यूँ भी कहा जा सकता है कि मलयज की चिन्ता के केन्द्र में मुनुष्य और मनुष्य की ज़िन्दगी व उसका दुख–दर्द था। यानि बिना किसी विवाद में घिरे अगर मलयज के बारे में मुझे अपनी राय देनी हो तो मैं कहूँगा कि मलयज मनुष्य और मनुष्य की ज़िन्दगी की चिन्ता करने वाले ऐसे आलोचक हैं जिनकी भाषा दुरूह है और जिन्होंने अपनी आलोचना के लिए ऐसे फॉर्म को चुना जो पाठक को जुड़ने में थोड़ी तकलीफ़ देता है।

हाँ अगर कलावादी होना प्रगतिवादी होने का विरोधी होना भी होता है तब मलयज खुद इस बात को स्वीकार करते हैं। शमशेर बहादुर सिंह ने मलयज पर लिखते हुए कहा है 'मुझे याद है एक बार उन्होंने मुझसे कहा भी कि आपका ग़लत ख़्याल है कि परिमल की नयी विद्यार्थी पीढ़ी प्रगतिवाद की विरोधी है। वास्तविकता यह है कि उसकी इस समर्थन या विरोध के विवाद में कोई दिलचस्पी ही नहीं है।' (एक प्रतिभा के विकास का परिवेश, शमशेर बहादुर सिंह, पूर्वग्रह १९८२ से साभार)

लेकिन यह कह भर देने से काम नहीं चलेगा कि मलयज मनुष्य की चिन्ता करने वाले आलोचक थे। मलयज की मनुष्य की चिन्ता हमें ठहरकर सोचने पर मजबूर करती है।

मलयज की आलोचना से गुजरते हुए ऐसे लगता है जैसे मलयज ने चण्डीदास की इस उक्ति को ज्यादा ही शब्दश: ले लिया कि 'शबारे ऊपर मानुष सत्य'। मलयज की अपनी आलोचना के केन्द्र में मनुष्य है, मनुष्य का दुख है लेकिन यह कहीं नहीं है कि इस मनुष्य का दुख बन कहाँ से रहा है। वे मनुष्य को परम्परा, समय और सभी प्रकार के द्वन्द्वों से काटकर उसे अपने आप में परिपूर्ण मानते हैं इसलिए जब उसके दुख की बात करते हैं तो वहाँ राजनीतिक या सामाजिक किन्हीं कारणों से वे आहत नहीं होते हैं बल्कि मनुष्य के दुख से आहत होते हैं।

मलयज रामचन्द्र शुक्ल पर लिखते हुए उन पर इस बात के लिए बहुत अभिभूत होते हैं कि वे विशिष्ट और विलक्षण के विरुद्ध सामान्य और सर्वानुभूत के पक्षधर थे। लेकिन मलयज इस 'सामान्य' को एक ऐसे मनुष्य में तब्दील कर देते हैं जो समाज के सभी हिस्सों से कटा हुआ एक अकेला मनुष्य भर है।

मलयज मनुष्य को केन्द्र में रखने के कारण ही हमेशा से टेक्सचुअल रहे। उनके यहाँ लेखक नहीं पाठ है। अपने महत्वपूर्ण निबन्ध 'सरोज स्मृति और निराला' में वे निराला के दुख को विशेष बनाते हैं जो छायावाद के दुख से अलग निराला की अपनी विशेषता है। प्रसाद, महादेवी और पंत के दुख में रहस्य है। नामवर सिंह अपनी पुस्तक 'छायावाद' में छायावाद के दुख को विशेष बताते हैं और उसे एक विराट आकांक्षा से जोड़ते हैं। अगर छायावाद के दुख को एक व्यक्ति के निजी दुख में रिडयूस कर दिया जाय तो यह छायावाद की आत्मा को मारने जैसे ही होगा। मलयज ऐसा इसलिए कर पाते हैं क्योंकि मलयज की आलोचना एक तटस्थ आलोचना है। और इस दुनिया में तटस्थ कुछ होता नहीं है। यही कारण है कि मलयज की आलोचना पाठाधारित होती है जिसका कोई सीधा सम्बन्ध न तो उसके लेखक से है और ना ही उसके समय और न ही परम्परा से।

मलयज के गुरु विजय देवनारायण साही थे। साही के निबन्ध 'लघुमानव के बहाने हिन्दी कविता पर एक बहस' से हम सब परिचित हैं। उस निबंध में मनुष्य के लिए 'लघुमानव' टर्म के इस्तेमाल से भी हम वाकिफ हैं। लेकिन मलयज अपनी आलोचना में इस पर सवाल खड़ा करते हैं। वे मानते हैं कि मानव के जीवन में दुख और कष्ट तो सदा लगा ही रहता है इसलिए इसमें कोई इतना बड़ा परिवर्तन नहीं है कि इसके लिए 'लघुमानव' जैसे टर्म के इस्तेमाल की ज़रूरत आन पड़े। वे मानते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति एक साथ सामान्य और विशिष्ट है इसलिए किसी को भी रहस्यात्मक सन्दर्भ में रखकर देखने की आवश्यकता नहीं है। मलयज रघुवीर सहाय की कविता 'हंसो हंसो जल्दी हंसो' पर बात करते हुए उसे एक व्यक्ति के दुख से जोड़ते हैं और अन्त में एक सवाल पूछते हैं कि 'रघुवीर सहाय की कविता के भीतर भी इस सवाल का बीज है कि क्या एक अकेला युद्ध लड़ सकता है?'

मलयज की आलोचना को लेकर बातें बहुत सारी हैं लेकिन उनकी आलोचना का मूल मुद्दा यही है कि साहित्य के केन्द्र में मनुष्य को होना चाहिए और साहित्य को मनुष्य का दर्द बयाँ करना चाहिए। वे इस बात पर बल नहीं देते कि मनुष्य के जीवन में यह दुख आता कहाँ से है। मलयज ने रामचन्द्र शुक्ल पर एक मुकम्मल किताब लिखने की शुरुआत की थी जो अधूरी रह गयी। लेकिन मलयज ने अपने यहां शुक्ल के उस बहुप्रचलित कथन को जगह नहीं दी जो कहता है कि साहित्य जनता की चित्तवृत्तियों का संचित प्रतिबिम्ब होता है और यह चित्तवृत्ति राजनीतिक, सामाजिक, साम्प्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थिति के अनुसार बनती और परिवर्तित होती हैं। मलयज अपनी महत्वपूर्ण पुस्तक 'कविता से साक्षात्कार' की भूमिका में लिखते हैं 'कविता कुछ भी सिद्ध नहीं करती सिवाय एक अनुभव को रचने के। आलोचना कुछ भी प्रमाणित नहीं करती सिवाय उस रचे हुए अनुभव को व्यापक अर्थ–विस्तार देने के।'

अगर हम यह मान लें कि कविता सिर्फ़ कवि के अनुभव को रचने के सिवाय कुछ नहीं करती है फिर तो मलयज से पूरी तरह से सहमत हुआ जा सकता है और अगर कविता को इससे कुछ अधिक माना जायेगा तब मलयज की आलोचना थोड़ी दिक़्क़त पैदा करेगी।

श्रीकांत दुबे

हिन्दी ही नहीं बल्कि विश्व की अनेक भाषाओं के साहित्य में बहुत सी विलक्षण प्रतिभाओं का किसी ख्यातिलब्ध लेखक के कद या फिर इस निमित्त प्रेरित किसी राजनीति की भेंट चढ़ते देखा गया है। बात चाहे जर्मन भाषा के उन्नीसवीं सदी के लेखक फ्रांज काफ्का के ताउम्र गुमनाम रह जाने की हो या फिर लैटिन अमेरिका की स्पैनिश भाषा के साहित्य में ८० के दशक में रोबेर्तो बोलान्यो के नेतृत्व में उठ रहे 'परायथार्थवादी आन्दोलन' का ओक्तावियो पाज़ जैसे रचनाकारों की राजनीति के शिकार हो जाने की। हिन्दी भाषा के गम्भीर साहित्य में योगदान करने वाले ऐसे रचनाकारों में एक महत्वपूर्ण नाम मलयज का भी है। मलयज न सिर्फ़ अपने अपने समय के एक अनिवार्य कवि थे बल्कि एक ज़रूरी चिन्तक–आलोचक भी थे। कुल ४६ वर्ष के जीवनकाल में उन्होंने अपने दो कविता–संग्रह तथा 'कविता से साक्षात्कार' नाम की एक आलोचना पुस्तक को प्रकाशित होते देखा। 'संवाद और एकालाप' तथा 'रामचंद्र शुक्ल' नाम से दो आलोचना पुस्तकें उनकी मृत्यु के उपरांत प्रकाशित हुईं। साथ ही नामवर सिंह के संपादन में कुल तीन खंडो में 'मलयज की डायरी' भी प्रकाशित होकर आई, जोकि हर मायने में मलयज के रचना–संसार की कुंजी साबित हुई।

आलोचना कर्म का आरंभिक अभ्यास उन्होंने स्वयं की ही कविताओं के बारे में चिंतन आरम्भ करने के साथ किया। इस चिंतन का प्रमाण उनके द्वारा अपनी ही डायरी में यह लिखा जाना है, 'मेरी कविता एक पूर्व निश्चित फॉर्म लेकर आती है। तो इससे क्या होता है? क्या खतरे में है?' आरंभिक शिक्षा पूरा करने के दौरान ही मलयज क्षय रोग के शिकार हो गए और सन १९५५ में वेल्लूर में उनकी शल्य चिकित्सा हुई। रोगग्रस्त जीवन के छः–सात संघर्षशील वर्ष बिताने के बाद मलयज का स्वभाव आत्मकेन्द्रित प्रकार का हो गया, जिसके चलते वे आगे के कुछ वर्षों में घनघोर चिंतन की और प्रवृत्त हुए तथा पचास के दसक के आखिरी वर्षों में लिखी उनकी डायरी के पन्ने इस बात के प्रमाण हैं। गहन चिंतन के उन्हीं वर्षों को मलयज के आलोचक का जन्म और शैशव काल कहा जा सकता है। मलयज के आलोचना कर्म पर बात करते हुए इस बात का उल्लेख अनिवार्य हो जाता है कि वे उन विरले आलोचकों में से एक हुए जो किसी रचनाकार की एक कृति पर लिखने

से पूर्व भी उसके रचना–कर्म पर समग्रता से विचार कर लेना ज़रूर समझता है। उनकी पहली आलोचना पुस्तक 'कविता से साक्षात्कार' में भूमिका समेत कुल उन्नीस लेख हैं। 'कविता से साक्षात्कार' नामक भूमिकात्मक लेख में एक स्थल पर अपने आगे के आलोचना से सम्बंधित अपने विचार कुछ यूं बयान कर देते हैं, 'आलोचना कुछ भी प्रमाणित नहीं करती सिवाय उस रचे हुए अनुभव को व्यापक अर्थ–विस्तार देने के'। अगले ही लेख में निराला की सरोज स्मृति पर बात करते हुए वे इसे शेष छायावादी कवियों की शोक–कविताओं के सापेक्ष दुःख की स्वनिर्भर दुनिया से बाहर आने की चीख करार देते हैं। इस मायने में एक चली आ रही परिपाटी के अतिक्रमण का पथ निर्मित होता है, जिस पर आने वाला अगला पड़ाव शमशेर हैं। यहाँ ठहरकर वे शमशेर का मूल्यांकन स्थापित मानकों से सर्वथा अलग अर्थों में करते दिखाई देते हैं। आगे के लेखों में क्रमशः अज्ञेय, विजयदेव नारायण साही, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, त्रिलोचन, प्रभाकर माचवे, श्रीराम वर्मा से होते हुए 'पहचान' के चार कवियों आग्नेय, शिवकुटीलाल वर्मा, सोमदत्त तथा विष्णु नागर की कविताओं तक की मीमांसा–यात्रा तय करते हैं। जैसा की पुस्तक के लेखों के तरतीब की सूची वाले पृष्ठ पर भी दीखता है, अब तक के दस लेखों के बाद एक विराम है। (तीन खण्डों वाली) 'मलयज की डायरी' के समानांतर अध्ययन से साफ़ होता है कि ये लेख साठ के दसक के पूरा होते–होते लिख लिए गए थे। इससे आगे के खण्डों में मलयज रचना के व्यक्तिवार विश्लेषण की राह से च्युत हो तत्कालीन रचनाशीलता के प्रवृत्ति, स्वरूप एवं विन्यास आदि जैसे काव्यशास्त्रीय बिन्दुओं पर गंभीरतापूर्वक विचार करते दिखाई देते हैं। इसे मलयज के आलोचक के परिपक्वतर अवतार के रूप में देखा जा सकता है।

मलयज की आलोचना पर आधारित दो अन्य पुस्तकें उनकी मृत्यु (१९८२) के बाद 'संवाद और एकालाप' तथा 'रामचंद्र शुक्ल' नाम से क्रमशः सन १९८४ तथा १९८७ में प्रकाशित हुईं। 'संवाद और एकालाप' पुस्तक के अंतर्गत कुल तीन खण्डों में बंटे लेखों में से पहले की शुरुआत में ही विजय सोनी के चित्रों पर लिखते हुए मलयज अपनी आलोचना के नए आयाम का उदघाटन करते हैं। हालांकि चित्रों के विश्लेषण के लिए प्रयुक्त ज्यादातर उपकरण मलयज के 'काव्य–विश्लेषण' के उपकरण ही दिखाई पड़ते हैं। अगले लेखों में निर्मल वर्मा तथा रमेशचंद्र शाह के रचनाकर्म के विश्लेषण के बाद 'आकारों की खोज' शीर्षक लेख में अनेक समकालीन लेखकों की एकसाथ पड़ताल की है। इस खंड का अंतिम अध्याय अशोक वाजपेयी को लिखे दो आत्मीय पत्रों के साथ होता है, जो पुनः रचनात्मक विमर्शों पर ही केन्द्रित हैं। किताब के दूसरे खंड में मलयज द्वारा की कुल सात समकालीन पुस्तकों की समीक्षाओं को जगह दी गयी है, जो पुस्तक समीक्षा के वर्तमान स्वरुप से इतर, स्वयं मलयज ही के शब्दों में कहें तो ज़रूरी 'सृजनात्मक' काम के तौर पर सामने आते हैं। किताब के अंतिम दो लेख 'गोष्ठी–प्रसंग' नामक खंड के अंतर्गत रखे गए हैं जिनमें मलयज विजय देवनारायण साही द्वारा उद्धृत 'लघु मानव' की संकल्पना से जुडी बहस के साथ 'सृजन और चिंतन' की बात करते हैं। मलयज ने हिंदी आलोचना रीढ़ स्वरुप स्थापित रामचंद्र शुक्ल के कृतित्व पर भी बहुत कुछ लिखा–सोचा हुआ है, जिसे उसकी समग्रता के साथ 'रामचंद्र शुक्ल' नाम की पुस्तक में संकलित किया गया।

मोटे तौर पर यह मलयज के आलोचना–कर्म के औपचारिक संकलनों का एक परिचय मात्र है, जो 'मलयज की डायरी' के उन अनेक पन्नों में चस्पा अनगिन बातों के बिना अधूरा सा है, फिलहाल जिनका ज़िक्र यहाँ नहीं हो सका है।

डॉ. प्रभाकर सिंह

कवि, आलोचक 'मलयज' कला, सृजन और विचार को जीवन की संवेदना के आलोक में ग्रहण करते हैं। वह रचना करते समय या उसकी पड़ताल करते समय उस जीवन्त परिवेश, परम्परा और इतिहास की पड़ताल करते हैं जहाँ सृजन और आलोचना अपना रूप ग्रहण करती है। इसलिए मलयज में कविता और आलोचना का रंग बहुत ईमानदारी और जीवन के गतिशील संवेगों में उभरता है। तभी तो वह रचना को समझने और समझाने के क्रम में वहाँ तक जाते हैं, जहाँ तक हमारी निगाह कम ही जाती है। वह जितने सहज हैं उतने ही सजग। वह आधुनिकता के बनावटी रंग से दूर थे लेकिन बेहद आधुनिक थे। वह आधुनिकता और परम्परा के चटक एवं धूमिल दोनों रंग की पहचान रखते थे तभी तो उनकी रचना और आलोचना में विवेक का सृजनशील रंग उभरता है।

मलयज आलोचना की विवेकवान, मर्मज्ञ और सृजनशील आवाज़ थे। आलोचना की ज़मीन पर उनका यह आलोचनात्मक क़दम संयत है, तटस्थ नहीं। बल्कि वह विचार के अनगिनत प्रकाश किरणों के साथ यात्रा करते हैं जो रचना के कोने–अन्तरे को अपने प्रकाश से आलोकित करता चलता है। मलयज का कवि मन उनके आलोचक मन में गुंथा हुआ है और आलोचना लिखते समय उनका कवि सदैव उनके साथ रहता है। मलयज के सृजनात्मक व्यक्तित्व के निर्माण में साठ के दशक का इलाहाबाद है जहाँ उन्हें कई बड़े रचनाकारों का संग–साथ मिला जिनमें से अधिकांश परिमल संस्था से जुड़े थे। पर उनकी नज़दीकी विजयदेवनारायण साही, जगदीश गुप्त और शमशेर से अधिक थी। १९५८ में 'प्रगतिशील लेखक संघ' में मुक्तिबोध से मिले और उनसे बेहद प्रभावित हुए। मलयज को आलोचक जीवन बहुत कम मिला लेकिन उसी अल्प समय में उन्होंने हिन्दी आलोचना की नयी ज़मीन बनायी। कविता से साक्षात्कार (१९७८), संवाद और एकालाप (१९८४), रामचन्द्र शुक्ल (१९८७) (सम्पादक : नामवर सिंह) और मलयज की डायरी–(२०००) (तीन खण्डों में, सम्पादन : नामवर सिंह) में मलयज का आलोचनात्मक लेखन विन्यस्त है।

मलयज कविता को समझने के लिए जिन आलोचनात्मक प्रतिमानों की बात करते हैं वहाँ वह सहज ही निराला और मुक्तिबोध के विचारों से जुड़ते नज़र आते हैं। आज़ादी के बाद हिन्दी कविता में राजनीति के केन्द्रीय प्रभाव को वह स्वीकार करते हैं। वह रचना और आलोचना में संकीर्ण दृष्टि के विरोधी थे। समय और समाज को व्यापक–दृष्टि से देखने की हिमायत करने वाले मलयज जीवन भर इस संवेदना का विस्तार करते रहे। वह क्रान्तिकारी कविता से अधिक संघर्ष की कविता को महत्व देते हैं। उन्होंने लिखा है–– "कवि को क्रान्तिकारी कविता के पास नहीं क्रान्तिकारी संघर्ष के पास जाने की ज़रूरत है।" (वही, पृ. १०७) मलयज प्रतिबद्ध और विवेकवान राजनीति चेतना सम्पन्न आलोचक हैं। नेहरू युग की राजनीति को उन्होंने आदर्शवाद की राजनीति कहा। 'जिसके पैर यथार्थ पर कम स्वर्णिम मानव–भविष्य के स्वप्न पर अधिक टिके थे'।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल पर मलयज की पुस्तक है––'रामचन्द्र शुक्ल'। आधी–अधूरी पुस्तक, तीन लेख। बाद में नामवर सिंह ने उनकी डायरी से शुक्ल जी सम्बन्धी उनकी आलोचकीय टिप्पणियों को एकत्रित कर इस पुस्तक का सम्पादन कर इसे मुकम्मल कलेवर प्रदान किया। आचार्य शुक्ल के आलोचक व्यक्तित्व को मूल्यांकित करते हुए मलयज कई मौलिक स्थापनाएँ प्रस्तुत करते हैं। आचार्य शुक्ल की रचनात्मकता को उनके युग–सन्दर्भ के तईं देखते–परखते हैं और उनके आलोचकीय–दृष्टि के उस पक्ष का उद्घाटन करते हैं जिसके आधार पर शुक्ल जी हिन्दी की वास्तविक आलोचना की मजबूत आधार–भूमि तैयार करते हैं। मलयज के शब्दों में, "आचार्य शुक्ल से पहले साहित्य को शास्त्र कहके दिखाने वाली आँखें ही थी, साहित्य को मर्म कहकर बताने वाली आँखें नहीं। शुक्ल जी की दृष्टि पुराने और नये तथ्य और भाव शास्त्र और मर्म के बीच सिर्फ़ समन्वय या तालमेल की दृष्टि न थी बल्कि अपने विवेक की तुला पर तौलकर साहित्य और जीवन का एक ऐसा रसायन तैयार करने की थी जो मनुष्य के अर्थ को उसकी तात्कालिकता में भी और उसकी चिरन्तनता में भी दूर तक प्रकाशित कर दे। साहित्य में अभिव्यक्त जीवन के अर्थ की सिर्फ़ व्याख्या नहीं उसके मूल उत्सवों की खोज और पड़ताल उस विवेक की कसौटी है जिसे सम्भव बनाकर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने पहली बार वास्तविक आलोचना कर्म को सम्भव बनाया।" (रामचन्द्र शुक्ल, पृ. २३)

मलयज का आत्मसंघर्ष उनके सृजन संघर्ष को रूपायित करता है। वह अनुभव से विचार ग्रहण करते हैं विचार से अनुभव नहीं। मलयज जीवन भर उस 'व्यवस्था' या 'सत्ता' को बदलने के लिए संघर्षरत रहे। उन्हीं के शब्दों में "हमने जब–जब लड़ाई का निश्चय किया तब–तब हमारे हाथों में ग़लत हथियार थे.... हम न स्वयं

बदल सके, न 'व्यवस्था' को ही बदल पाये। कारण वही रहा हमने स्वयं को बदलकर व्यवस्था को बदलना चाहा।" (संवाद और एकालापए पृ. ६९)

मलयज का साहित्य ही उनका जीवन है और उनका जीवन ही उनका साहित्य। वह जीवन और साहित्य को एक ही मानते हैं। उसमें फांक नहीं है। कविता की आलोचना हो या अन्य विचार रचते समय वह जीवन को रच रहे होते हैं। जीवन को निर्भय होकर देखना फिर उसे कला रूप में ढालना ज़रूरी है। मलयज के लिए कवि–कर्म का साहस भी यही है। कवि–कर्म की इसी जागरूकता और जीवन के अनुभव की विशदता पर उनका कहना है––"कविता लिखो लेकिन कवि की तरह नहीं। कविता बस आदमी की भाषा हो और कुछ नहीं। इससे ज़्यादा की कोशिश कविता में आदमी को कवि बना देती है और कविता को जीवन हीन।" (मलयज की डायरी, पृ. ५१५) इस प्रक्रिया में सच्ची कविता का आशय स्पष्ट करते हुए उनका लिखना है : "कविता सच्ची बनती है भाषा के भीतर की अनुभूति से बड़ी बनती है भाषा के बाहर कर्म से।" उनकी साहित्य दृष्टि में अनुभव और अनुभूति का विशद संसार है। मलयज साहित्य सृजन और चिन्तन में 'मुक्तिबोध का सतह का आदमी' है तो दूसरी ओर आचार्य शुक्ल का 'साधारण आदमी'। उनके साहित्यिक व्यक्तित्व की बुनावट में रामचन्द्र शुक्ल, निराला और मुक्तिबोध की साहित्य संवेदना, तनाव और संघर्ष का रसायन मिला हुआ है। आत्मसंघर्ष, तनाव और जीवन जगत के प्रति सर्जनात्मक दृष्टि से ही तो मलयज का स्वतन्त्र विवेकवान आलोचक व्यक्तित्व उभरता है।

इक्कीसवीं सदी में जहाँ विचार और बाज़ार की आंधी में सब उड़ रहे हैं, मलयज का साहित्य हमें ज़मीनी हक़ीक़त से जोड़ता है। मलयज अपने जीवन के अनुभव और संघर्श को सृजन में और चिन्तन में बड़ी ईमानदारी से व्यक्त करते हैं। उनकी व्यावहारिक आलोचना में समय और साहित्य को जानने के कई विचार सूत्र मिल जाते हैं। उनका साहित्य सामान्य आदमी के पक्ष में खड़ा शोषण और दमनकारी व्यवस्था का प्रतिपक्ष रचता है।

उसका बचपन

अरुण शीतांश

यह एक कारुणिक कथा है। कथा जीवन की है। जीवन का आख्यान संघर्षों से लदा हुआ है– 'उसका बचपन' उपन्यास हमें दु:ख से भर दिया। अगर पारो इसमें नहीं होती तो पढ़ता और रोता रहता।

दरअसल, यह उपन्यास पढ़ते हुए मुझे गाँव ख़ासकर बिहार के गाँव याद आने लगे। उपन्यास का नायक ही वीरु है और अन्त भी को मैंने निकट से जीवन के यथार्थ में देखा है। हमारे गाँव में (अरवल ज़िला) एक बच्चा माँ से पैसे माँग रहा था –दो रुपये। माँ के पास नहीं थे। पिता गोबर ठोक रहे थे। इस बीच वह बच्चा कोठा पर गया और झूला पर बैठ कर आत्महत्या कर लिया।

इस उपन्यास पर लिखते और कहते हुए मुझे स्थिर होने में दो सप्ताह लगे। इतने बड़े लेखक पर कुछ नहीं कहना चाहता हूँ कि निर्मर्मता पूर्वक लेखन समाचार का होता रहा है। जबकि समाचार को भी संवेदनशील होना

चाहिए। यहाँ संवेदनशीलता इतना सघन है कि हमारा दिल रोता ही रहा।

'उसका बचपन' में दादी की और माँ का संवाद एक दूसरे के प्रति बदला लेने की रही है। पर एक बच्चे को क्या मालूम; बच्चा तो दादी से बेइंतिहा प्यार करता है। बीरु का घर गृह युद्ध का अखाड़ा बना हुआ है। हालांकि वह माँ से भी प्यार करता है। बाबा से प्यार करता है। काका और देवी से भी। असलम दोस्त से भी। बीरु प्यार करने वाला बच्चा है।

बीरु की दादी गाँव चली जाती है और जब मरने की सूचना आती है तब कथा में एक मोड़ आता है। इस बीच छोटे भाई काका की बीमारी से मृत्यु हो जाती है। माँ गाँव से आ जाती है और बाबा शराब के नशे में चूर। माँ का कड़ा भी बेचकर शराब पी जाते हैं। इस बीच पारो संग बीरु की दीदी प्यार की ज़मीन तैयार कर ली है। माँ जानकी को सब पता है गुस्सा करती है गाली भी देती है। सारी सूचना जलालपरनी सब बता देती है।

हर गाँव में बच्चे खेलते हैं। पढ़ते हैं। गली में नाच रहे हैं–

रब्बा रब्बा मींह बसा
साहड़ी कोढी दाने पा...

कालियाँ इटहाँ काले रोड
मींह बसा दे जोर जोर

बीरु के जीवन पर यह कथा रची गयी है। उसके जीवन में सुख नसीब नहीं हुआ। स्कूल से घर तक घर से समाज तक वह कष्ट झेलता रहा। यह छोटा बालक सुख के सपने देखता रहा। थोड़ा सा सुख उसको असलम के घर खाना खाकर मिला। खाना खाते–खाते बीच–बीच में असलम गाने लगता है–

मुहम्मद न होते, खुदाई न होती
खुदा ने यह दुनिया बनाई न होती

जमाअत मेरी पिटाई न होती
फिज्जा के सिर पे रजाई न होती

खुदा ने ये अम्मा बनाई न होती
मुहम्मद न होते खुदाई न होती

01

बाल प्रेम कैसा होता है। इस उपन्यास में थोड़ी सी झलक भी है। असलम की बहन का नाम हफ़ीजा है। हफ़ीजा बाल बनाते हुए बीरु की ओर मुँह करके खड़ी हो जाती है। उसका कद देवी से कुछ छोटा है। लेकिन रंग मिट्टी के पके बर्तन–सा है। हिन्दू दालखोर होते हैं। इसलिए उनके रंग में भुसभुसापन होता है। असलम ने एक बार इस बात पर बहुत कुछ कहा था।

जब हफ़ीजा कंघी करते–करते अपने बालों को पीछे की ओर ले जाती है तो उसकी कमीज ऊपर को खिंच जाती है। और बीरु की नजरें उसके सीने पर जम जाती है।

तो इस तरह एक छोटा बालक कम वय में घर की स्थिति वातावरण प्रेम महसूसाता है। अगर वह नहीं महसूसता तो और संघर्ष करता। बाबा की नौकरी की चिट्ठ्ठी की खोज होती है। वह घर का आसरा है जो टूट जाता है। और बीरु गाय की रस्सी से इहलीला का निर्णय लेता है।

दो औरतों के प्रतिशोध में (दादी–माँ) कैसे घर बर्बाद होता है यह एक बड़ा उदाहरण 'उसका बचपन' नामक उपन्यास है।

जब वह बहुत छोटा था तो माँ उसे एक कहानी सुनाया करती थी (शायद ऐसा लग रहा है मानो वो अपनों पर सुना रही हो)।

लच्छमी और कुलच्छमी दो बहनें थी। आख़िर में माँ दो तीन बार कहा करती थी– लच्छमी आवे, कुलच्छमी जावे....

इस कथा के पीछे एक कारण यह भी रहा कि बीरु की माँ का विवाह बहुत छोटी सी उम्र में कर दिया गया था। यानी बाल विवाह। जैसा कि पहले होता था। और आज भी हो रहा है। लेकिन कम। यह सब देखना हो तो जहाँ मेला लगता हो या वहाँ जहाँ तीर्थाटन हो या मूर्ति पूजा हो वहाँ मिलेगा। मेरे गाँव के पास मधुश्रावां मेला लगता है। लग्न में वहाँ शादियाँ होती रही है।

इस उपन्यास के कथानक में बहुत कुछ आज भी घट रहा है। जबकि यह उपन्यास कृष्ण बलदेव वैद ने बहुत पहले ही लिखा है। मुझे लगा था कि यह बालमनोविज्ञान पर होगा। पर ऐसा नहीं था। मगर आज गाँव भी बदल रहा है। जुआ आज भी गाँव में हो रही है।

यह उपन्यास एक चलचित्र की तरह है। इसे सबको पढ़ना चाहिए।

ख़ासकर इलिट सोसाइटी के लोगों को।

शिवानी

यह एक ऐसा आत्मकथात्मक उपन्यास है, जो विभाजन की पृष्ठभूमि पर लिखा गया। इसका प्रमुख पात्र बीरू नामक छोटा बच्चा है जिसके मानस से कथानक रचा गया है। उसकी स्मृतियाँ उपन्यास के आख्यान को रचती हैं। उसकी बचपन की स्मृतियों में दादी, माँ, पिता, बहन, उसकी सहेली, बहन का प्रेमी और उसका परिवार व कुछ शहर हैं। इनके आपसी रिश्तों की बुनावट से दुनिया का हाल जाना जा सकता है। आख्यान की पृष्ठभूमि में देश के विभाजन के त्रासद परिणाम हैं जिन्होंने आने वाली कई पीढ़ियों को प्रभावित किया। विभाजन के परिणाम स्वरूप जो विस्थापन हुआ; उससे बेरोज़गारी और गरीबी बढ़ गयी। इससे परिवार के रिश्तेदारों व बिरादरी में अविश्वास और कई तरह के व्यभिचार को बढावा मिला। स्वाधीनता और विभाजन के बाद आधुनिक भारत के निर्माण के स्वप्न के समक्ष कई चुनौतियाँ थीं। जिसे इस उपन्यास में ग़रीबी से जूझते एक विस्थापित परिवार की कहानी के माध्यम से देखा जा सकता है। परिवार में किसी भी तरह का 'पारिवारिक मूल्य' या तथाकथित 'मर्यादा व आदर्श' नहीं है। निम्नवर्गीय ग़रीब परिवार में रिश्तों की अजीब–सी उधेड़बुन और खींचातनी है जिसमें क्या वैध है क्या अवैध, इसे बीरू के बाल मन से दिखाया गया है। इसमें कई सवाल हैं जिन्हें वर्तमान में ज़्यादा गम्भीरता व गहराई के साथ समझा जा सकता है। उपन्यास का शिल्प आज भी नयेपन का आभास देता है, वैद जी शिल्प की प्रयोगधर्मिता के लिए भी जाने जाते रहे हैं। इसमें बीरू आपबीती सुना रहा है, जिसमें किसी औपचारिक क्रमबद्धता का पालन नहीं किया गया फिर भी पाठक को ऐसा नहीं लगता कि आख्यान का क्रम भंग हो रहा है। बीरू अपने बचपन के खुरदरे और ऊबड़–खाबड़ हिस्सों को व्यक्त कर रहा है। अप्रिय लगने वाले इस हिस्से की स्मृतियाँ बहुत लम्बी और घनी हैं जिन्हें जीवित होने और रहने के अहसास के बाद सुनाता है। उपन्यास बीरू के फ्लैशबैक में जाने के साथ शुरू होता है। उसमें ग़रीबी और उससे उपजे भयंकर

तनावपूर्ण पारिवारिक माहौल में जीवित रहने की अदम्य कोशिश है, वहीं कुछ पल खुशी के भी होते हैं। सुख का अनुभव बहुत क्षणिक और अस्थायी है। बचपन में ही उसे जीवन के बड़े–बड़े दुखों के नाम पता चलने लगे थे, ऐसा क्यों है? वे ग़रीब क्यों हैं, पिता जुआ क्यों खेलते हैं, माँ इतनी झगड़ालू क्यों हैं, दादी के साथ इतना कड़वा क्यों बोलती है, उसे क्यों मारती है और पिता माँ को क्यों पीटते हैं? उसकी बहन कहाँ जाती है जिससे माँ इतना नाराज़ होती है और अपनी ही बेटी को गंदी–भद्दी ज़बान से फटकारी है, गालियाँ देती है। माँ का यह रूप उसके लिए सबसे अधिक असह्य था। सुख था तो कभी–कभी दादी की गोद में बैठने का, जब वे प्यार से सहलाती थी। घर की औरतों में आपस में किसी तरह का समभाव नहीं था, वे परस्पर एक दूसरे की विरोधी और झगड़ालू थीं। उनके बीच एक ऐसा संघर्ष चला करता जिससे उपजा तनाव देश की सामाजिक–राजनीतिक हालात का अप्रत्यक्ष बयान था। ग़रीबी में परिवार के सदस्यों में जिस तरह का संघर्ष चला करता वह राष्ट्र के स्वतन्त्र, विकासशील, आधुनिक मूल्यों पर हास्य उत्पन्न करता नज़र आता है। विभाजन के कारण उजड़े व देश में पुनर्वासित समुदाय की ग़रीबी आधुनिकता पर व्यंग्य करती प्रतीत होती है। जिस देश में स्वाधीनता और राष्ट्रीयता की पहचान देवी और आदर्श भारतीय स्त्री के मातृत्व के रूप में की गयी उसका परिहासपूर्ण स्वरूप बीरू का ग़रीब परिवार था जिसके घर में उसकी माँ, दादी और बहन स्त्री से जुड़े सारे राष्ट्रीय मिथकों को धाराशायी करते हैं। स्वाधीनता के स्वप्न के साथ तथाकथित मातृत्व व स्त्रैणता को जिस तरह से गौरवान्वित किया गया उसे स्वाधीन– आधुनिक भारत में वर्गीय स्थितियाँ उसके उलट यथार्थ की गवाह हैं। परिवार में परम्परागत मूल्यों और नये विचारों के बीच खींचा–तनी चलती रहती है, वास्तव में वर्गीय स्थितियाँ मूल्यों को परिभाषित करती है। उनके परस्पर रिश्तों व हर भाव को उनकी ग़रीबी प्रभावित कर रही है जिसे बीरू का बाल मन समझने में असमर्थ है इसलिए उसके मन में कई सवाल हैं।

घर–परिवार और देश को पहचानने व बचाने का जो स्वप्न रवींद्रनाथ के उपन्यास घरे–बाहिरे के समय उपजा था, जिसमें 'घर' का अभिप्राय अपना देश और वे पारिवारिक मूल्य थे जिनसे बाह्य गुलामी के ख़िलाफ़ लड़ा जा सकता था। लेकिन ग़रीबी का यथार्थ एक उपनिवेश के भीतर कई उपनिवेश पैदा कर देता है। यह उपन्यास स्वाधीनता के बाद यथार्थ के उस वीभत्स रूप को सामने रखता है जिसका दूसरा हिस्सा विभाजन है। माँ वह उपनिवेश है जो पिता से पिटती है, बीरू और उसकी बहन वे उपनिवेश हैं जो माँ की गालियाँ खाते हैं व पिटते हैं। पिता की बेरोज़गारी व ग़रीबी से निवृत्ति के उपाय उन्हें गलत धंधों की ओर धकेल देते हैं। बहन देवी अपने धर्म से अलग लड़के से प्रेम करते हुए भी उससे विवाह नहीं कर पाती, जिसके पीछे धर्म से भी ज़्यादा उनकी वर्गीय व पारिवारिक स्थितियाँ थीं।

कृष्ण बलदेव वैद अपने उपन्यासों में वीभत्स चित्रण करने के लिए विख्यात रहे हैं जिसके चलते कुछ आलोचकों ने उन्हें अपठनीय तक बता दिया। आलोचक और पाठक का मानस कुछ हद तक उपलब्ध साहित्यिक टूल्स की सीमाओं से प्रेरित व संचालित होता है, जिन्हें तोड़ने का काम बदलती सामाजिक परिस्थितियों के साथ नये उपलब्ध टूल्स के साथ किया जाता है। मंटो, अमृता प्रीतम और विभाजन के दौर के कई लेखकों की क़लम में अपने समय की सीमाओं को तोड़ देने वाली ताक़त को वर्तमान साहित्यिक टूल्स के माध्यम से पहचाना जा सकता है। यह उपन्यास अपने शिल्प के कारण ही कई नये सवाल सामने रखता है। यह एक ऐसा नैरेटिव फिक्शन है जिसमें बीरू का स्व और आत्मनिष्ठता सामने आती है क्योंकि यह नैरेटिव बीरू नामक एक बच्चे का वरज़न और नैरेशन है। जिसमें वह आपबीती सुनाते हुए यथार्थ के उन हिस्सों को सामने रख रहा है जिसमें साहित्यिक सौन्दर्य को अपने समय में चुनौती देने की कोशिश की गयी। उसके विवरण में घरवालों

का उज्जडपन सामने आता है। इस तरह का यथार्थ भीष्म साहनी की कहानियों (जैसे– चाचा मंगलसैन, चीफ की दावत, अमृतसर आ गया) में देखा जा सकता है पर वे वर्गीय स्थितियों को रेखांकित करने वाले स्पष्ट विचारधारात्मक आधार को लेकर लिखते हैं।

आत्मकथ्य को नैरेटिव नहीं माना जाता क्योंकि उसमें फिक्शन नहीं होता। उसमें तथ्यात्मक विवरण और वास्तविकता होती है। जबकि नैरेटिव में काल्पनिक अभिव्यक्ति व रचना करने की क्रिया निहित होती है। जब यह उपन्यास लिखा गया तब शिल्प के रूप में नैरेटिव फिक्शन ही प्रचलित था। वैद विधा और शिल्प के स्तर पर इनमें प्रयोग करते हैं। अपने एक साक्षात्कार में वे स्वीकार करते हैं कि यह उपन्यास आत्मकथात्मक है, सिर्फ़ बीरू की आपबीती नहीं। इसमें नैरेशन का स्कोप कम है, संवाद करते हुए स्क्रिप्ट का रूप ज़्यादा है। पाठक के लिए यह विभाजन के महाकाव्य का हिस्सा बन सकता है जिसके बारे में अब तक चर्चा नहीं हुई। बाद की पीढ़ियों ने विभाजन से जुड़ी स्मृतियों को किस तरह अनुभूत किया और उससे भी अधिक विभाजन के दूरगामी प्रभावों व परिणामों को किस तरह झेला, इसलिए यह एक टैक्स्ट भी बन जाता है। बीरू का स्व वह बाल–मन है जो सच के सिवा कुछ नहीं कहता, उसमें हालात को समझने का कच्चापन पाठकों के लिए सच्चे सवाल रखता है। उसके घर व परिवार के सदस्य वह खिड़की हैं जो देश–दुनिया का हाल व बदलते नक़्शे दिखाते हैं। वे सब अविभाजित पंजाब के अवशेष हैं।

राहुल सिंह

१९५७ में जब 'उसका बचपन' प्रकशित हुआ था तो इसे हिन्दी साहित्य में एक विशिष्ट घटना के तौर पर देखा गया था। आज ६० साल बाद भी 'उसका बचपन' से गुजरने पर उसकी भाषागत ताज़गी बरबस ध्यान खींचती है। ६० साल पहले जब 'उसका बचपन' का पाठ किया होगा और आज जब उसका पुनर्पाठ कर रहे हैं तो सवाल उठता है कि ६० साल से उसका पाठ तो स्थिर है लेकिन पुनर्पाठ में वे कौन–से नये कोण हैं जो उभरते हुए जान पड़ते हैं। इस लिहाज़ से विचार करें तो 'उसका बचपन' का फोकस बदल जाता है। तब 'उसका बचपन' की बजाय 'उसका मातृत्व' थोड़ा मुखर होता हुआ नज़र आता है। एक बात जो ज़ोर देकर कही जा सकती है, वह यह कि आज से ६० साल पहले, 'उसका बचपन' का 'घरेलू हिंसा' की दृष्टि से, सम्भव है कि कोई पाठ नहीं हुआ होगा। और ज्यों ही इस दृष्टि से 'उसका बचपन' पर निगाह डाली जाती है, त्योंही बचपन की बजाय मातृत्व केन्द्र में आ जाता है। और तब इस बात की ओर ध्यान जाता है कि उपन्यास में सिर्फ़ 'उसका बचपन' ही नहीं उसकी माँ का मातृत्व भी एक नाभिक है। तब इस बात की ओर भी ध्यान जाता है कि बचपन का जिक्र आयेगा तो मातृत्व का जिक्र भी आयेगा। जैसे सूरदास जब कृष्ण के बालपन को टांक रहे थे तो प्रकारान्तर से वे यशोदा के मातृत्व को भी मान दे रहे थे। यशोदा के मातृत्व के बगैर कृष्ण के बालपन की लीलायें कैसे अस्तित्वमान होतीं। उसकी माँ की लिहाज़ से उसका बचपन का पाठ करें तो उसकी माँ की बेबसी की भी एक बारीक कताई उपन्यास में मौजूद है। एक नियमित अन्तराल पर माँ के आचरण में आयी रुक्षता, कड़वाहट, मतलब परस्ती का एक जस्टिफिकेशन मौजूद है। वह बीरु को नींद से पहले सुनाई जाने वाली कहानियों में मौजूद है। माँ एक छंद की तरह है, मतलब देवी और बीरु के जीवन में एक बंधन की तरह। माँ की गैर मौजूदगी उनके जीवन में उत्सवधर्मिता के अवसर पैदा करता है। ऐसे अवसरों के कारण ही इस उपन्यास का नाम 'उसका बचपन' है।

इस उपन्यास का एक और संजीदा पहलू है और वह है बच्चों के स्वभाव के विकास में बचपन कैसे निर्णायक भूमिका निभाता है? इस उपन्यास के बाबत कृष्ण बलदेव वैद की सबसे बड़ी ख़ूबी उस बालमन और बालपन को उसके निपट रूप में बांध लेने में है। इस पहलू के कई ग़ज़ब के दृश्य हैं, इस उपन्यास में। एक का जिक्र कर रहा हूँ जब बीरु नत्थू की दुकान से उधार में आटा लेने पहुँचा है और न मिलने पर ख़ाली हाथ लौट रहा

है। और तब उसे एक लड़का मिलता है जिसकी टेक है– तो आओ खेलें। एक लहुलूहान बचपन है, जो अभाव और भूख की स्थितियों से आक्रान्त है। भूखा बीरू असलम के घर रोटी खाता है। माँ की हिदायतें भूल कर। शोभा डे की एक किताब है– 'स्पाउस'। उसमें बचपन के सन्दर्भ में एक बड़ी मार्के की बात है, जिसके आलोक में भी इस उपन्यास पर विचार किया जा सकता है। वह यह कि 'एक ख़ूबसूरत भविष्य के निर्माण की आधी दूरी तो एक ख़ूबसूरत बचपन उपलब्ध कर देता है।'

इस उपन्यास में मुहल्लों के जीवन को जिस जीवन्तता के साथ पकड़ा गया है, वह हाल के दिनों में एक दुर्लभ हो चुकी परिघटना है। एक मुहल्ला जो कस्बा होने की कगार पर जूझ रहा है, उसकी जो छवियाँ हैं। मुहल्ले में एक पड़ोस हुआ करता था, उसकी जो छवियाँ उकेरी गयी हैं। वह अपनी प्रामाणिकता के कारण जीवन्त है और जीवन्तता के कारण प्रामाणिक। दिलचस्प बात यह है कि इसे पढ़ते हुए एक इत्मीनान का बोध होता है। मानो कृष्ण बलदेव वैद को रत्ती भर भी जल्दबाजी नहीं है। 'उसका बचपन' के गद्य में यह इत्मीनान दिखता है। कृष्ण बलदेव वैद ने 'उसका बचपन' में अपने आब्जर्वेशन और उसको नक्श करने की जिस क्षमता का परिचय दिया है, वह मानीखेज है। उनके देख सकने की क्षमता से इस उपन्यास में मौके–बेमौके इतनी राहें फूटती रहती हैं कि उसे पढ़ते हुए बार–बार सम्भव हो कि आप अपने बचपन की छवियों में गुम हो जायें। उसे पढ़ते हुए कई बातों का बोध होता है मसलन् फौरी तौर पर कहूँ तो साधन सम्पन्न घरों में एक सहजात अनुशासन होता है और विपन्न घरों में एक जन्मजात बंधन। ऐसे विपन्न घरों से बाहर निकल कर जब हम पड़ोस के घरों में दाख़िल होते हैं तो वह हममें एक छोटेपन का बोध बोने और सींचने का काम करता है। घर के बाहर होने पर अपने छोटे होने का अहसास बड़ी शिद्दत से घर करता जाता है। रोज़ ख़ुद के छोटे होने के ऐसे कई मौक़े दरपेश होते हैं, जिससे उबरने में कई बार पूरा जीवन कम पड़ जाता है।

'उसका बचपन' में जो कुछेक बातें रह गयी थीं, उसे सविस्तार कृष्ण बलदेव वैद 'गुज़रा हुआ ज़माना' में लेकर आते हैं। कुछ बातों की जानकारी हमें उस दूसरे खण्ड में जाकर होती है। उसका बचपन किन गलियारों से होता हुआ किशोरपन की पगडण्डियों में दाख़िल होता है, कृष्ण बलदेव वैद इसे सविस्तार 'गुज़रा हुआ ज़माना' में दर्शाते हैं। उससे गुज़रते हुए तीन–चार बातें एक साथ महसूस होती हैं। पहला यह कि 'उसका बचपन' भले उपन्यास के तौर पर हमारे सामने आता है लेकिन उसमें एक किस्म का कहानीपना है। लम्बा होते हुए भी वह औपन्यासिकता के सीमा रेखाओं को छूता भर है, उसमें दाख़िल नहीं होता है। इसके उलट 'गुज़रा हुआ ज़माना' शुरुआती २०–३० पन्नों में ही अपनी औपन्यासिकता की मुनादी करता हुआ जान पड़ता है। दूसरी बात, जिन्होंने भी विभाजन की आंच को सहा है उनकी भाषा की एक ख़ास बनक रही है। उसकी रंग–ओ–बू कृष्ण बलदेव वैद के यहाँ भी महसूसी जा सकती है। विभाजन के गद्य में जो उर्दू ज़ुबां की एक नफासत देखने को मिलती है वह पूरी लज्जत और दर्द के साथ यहाँ भी है। तीसरी बात यह कि 'उसका बचपन' में बचपन केन्द्र में है लेकिन 'गुज़रा हुआ ज़माना' में वह परिवेश महत्वपूर्ण हो गया है। कस्बे और मुहल्ले को परिभाषित करने वाली स्थितियाँ यहाँ ज़्यादा महत्वपूर्ण है। कस्बे की चौहद्दी और परिवेश की एक बेहतर पहचान 'गुज़रा हुआ ज़माना' लेकर आती है। उसकी चौहद्दी को लांघता बचपन पूरी यौनिकता और यौन अनुभवों के साथ 'गुज़रा हुआ ज़माना' में नमूदार होता है।

फ़िलहाल, एक आखिरी बात यह कि २५ साल के बाद बीरू की कहानी 'गुज़रा हुआ ज़माना' में फिर कहने की ज़रूरत कृष्ण बलदेव वैद क्यों महसूस करते हैं? क्या 'उसका बचपन' में 'उसका' (ख़ुद का) एक ओट है? और क्या उस ओट से बाहर आने की कोशिश में एक ज़माना और गुज़रता है?

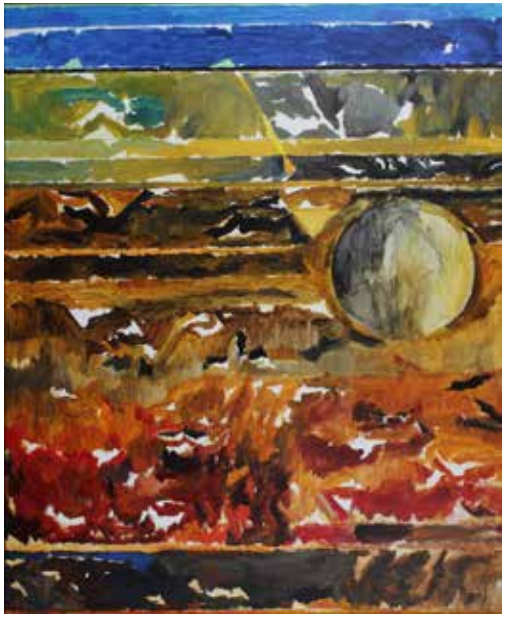

ज्योति चावला

कृष्ण बलदेव वैद का उपन्यास उसका बचपन १९५७ में प्रकाशित हुआ। यह उनका पहला उपन्यास है और उनके अनुसार कहें तो उनके उन चंद उपन्यासों में जिनमें कथा तत्व है। वैद लेखन के लिए विचारधारा को महत्वपूर्ण नहीं मानते। उनका मानना है कि लेखक अपने पूर्णत्व में केवल लेखक होता/होती है। यदि वह स्वयं को किसी विचारधारा में बांध लेता/लेती है तो वह उसका गुलाम हो जाता/जाती है। और वैद अपने आप में केवल लेखक रहना चाहते हैं जहाँ वे सिर्फ इसलिए लिख रहे हैं क्योंकि वे लिखना चाहते हैं। उनका कहना है कि वे लिखते समय सिर्फ लेखक ही रहना चाहते हैं। लिखते समय उनके सामने न कोई विचारधारा होती है, न ही कोई पाठक। इसीलिए वे साफ़ कहते हैं कि वे अभिव्यक्ति में विश्वास करते हैं, सम्प्रेषण में नहीं—

अभी लेखक के व्यक्तित्व में जाने से पहले आवश्यक है कि उपन्यास के बारे में जान लें। उपन्यास का पहला सफा, पहला हर्फ़ और वहाँ से अंत तक जैसे एक ही तान और एक ही सुर में बज रहा कोई वाद्य जो कोई ऐसा राग बजा रहा है जो मृत्यु पर बजाया जाता हो।

कहानी में कई पात्र हैं। इस कहानी में किसे मूल पात्र कहा जाय और किसे गौण, तय कर पाना बेहद मुश्किल है। कहानी के केन्द्र में एक बच्चा है जिसे ध्यान में रखकर ही उपन्यास का शीर्षक 'उसका बचपन' दिया गया है। उसके अलावा माँ यानी जानकी, बाबा, दादी, देवी, जलालपुरनी, पारो, नरेश, बहनजी, पारो की माँ, चाचा, असलम, हफ़ीज़ा, असलम की माँ, मास्टर जी और गली के बच्चे हैं जो कुल मिलाकर इस कहानी को आकार देते हैं। लेकिन मेरे अनुसार तो देखा जाए तो यहाँ करुण रस है, बीरू और माँ के जीवन का वह स्थायी भाव है और बाक़ी सब पात्र, सब घटनाएँ संचारी भाव पैदा करने के लिए कहानी में आते—जाते रहते

हैं। यह एक बेहद ग़रीब घर है, इतना ग़रीब कि जहाँ एक समय खाना भी ठीक से नसीब नहीं। माँ यानी जानकी इस ग़रीबी के लिए कभी पति को दोष देती है, कभी अपनी सास को और कभी अपनी क़िस्मत को। पूरे उपन्यास के मूल में कथा केवल इन्हीं दो पंक्तियों की है और उसके बाद जो भी घटित होता है, वह सब इस हद दर्जे के ग़रीब घर की नियति है।

आपका बंटी की ही तरह यह उपन्यास एक बच्चे को केन्द्र करके लिखा गया है और आसपास घटित हो रही सारी घटनाओं को बच्चे के मनोविज्ञान से समझने की कोशिश की गयी है। हालांकि बीरू के घर जैसे ग़रीब घर के लिए मनोविज्ञान और बच्चे के मानसिक विकास की चिन्ता जैसे शब्द बेमानी हैं।

इस कहानी के केन्द्र में एक बच्चा है जो जहालत भरी ज़िंदगी जी रहा है लेकिन क्योंकि 'वह एक निहायत ही छोटा और बेवकूफ बच्चा है' इसलिए वह इस सबमें से भी अपने लिए सुख के कुछ पल खोज निकालता है। नाली में पल रही भिड़ों को कोंचकर उसे सुख मिलता है। उसका दुख तब बढ़ता है जब उसका पेट खाली होता है या फिर वह हर समय माँ की चिकचिक, लडना—झगडना या चिल्लाना सुनता है और कल्पना करने लगता है कि माँ मर ही क्यों नहीं जाती लेकिन जिसकी पीडा, जिसका दर्द सबसे अधिक तकलीफ़ देता है वह है माँ यानी जानकी का दुख। और जानकी सारे पात्रों को पीछे धकेलकर उभरकर सामने आ खडी होती है ऐसे जैसे पूछ रही हो कि अगर वह बुरी है, चिल्लाती है, लड़ती है तो उसमें उसका दोष कहाँ है। हालांकि कृष्ण बलदेव वैद नहीं चाहते कि उनकी रचनाओं का उत्तर आधुनिक पाठ हो और उनके लिए पाठकीय प्रतिक्रिया से अधिक महत्व अभिव्यक्ति की प्राथमिकता का है (सन्दर्भ चर्चित कहानियाँ : कृष्ण बलदेव वैद की भूमिका तुझ से (क्यों) कुछ कलाम नहीं से) फिर भी मैं उनकी रचना का पुनर्पाठ करने की कोशिश कर रही हूँ। मेरे हिसाब से यह कहानी जितनी बीरू और उसके बचपन की है, उससे रत्ती भर भी कम जानकी की नहीं। जानकी जो सबकी बददुआओं का सबब है, जिसके मरने की कामना उपन्यास का लगभग हर पात्र करता है। पूरी कथा में कहीं भी ठहरकर यह नहीं सोचा गया कि जानकी अगर ऐसी है तो ऐसी क्यों है। क्यों उसके बाल उजड़े हैं, क्यों वह हर समय गालियाँ बकती है, क्यों वह दादी को नापसंद करती है, क्यों वह बाबा से झगडती है। जानकी के घर में जहाँ हर वक्त हड्डियों को गला देने वाला धुआँ उठता तो है लेकिन पकता कुछ भी नहीं, आखिर वह धुआँ कहाँ से आता है। ज्यों ज्यों आप कथा से गुजरेंगे तो लगेगा, यह धुआँ घर के भीतर चूल्हे से नहीं जानकी के भीतर सुलग रहे उसके ख़्वाबों से आ रहा है। ख्वाब जिसमें वह अदद एक ऐसे घर की कामना करती है जहाँ उसके बच्चे सुखी हों, चूल्हे में आग हो तो बर्तनों में अनाज भी हो, उसका पति उससे प्रेम करे, उसका सम्मान करे। जानकी की इच्छाएँ आधे—अधूरे की सावित्री की तुलना में भी देखें तो बेहद तुच्छ हैं। एक अदद जीने लायक जिंदगी। और उसके हिस्से आता है शराबी जुआरी पति, हर वक़्त ताने देने वाली सास और एक ऐसा घर जहाँ घर के नाम पर चार बर्तन भी नहीं। घर की ड्योढी के बीच अपनी इच्छाएँ दबाये जानकी अपने भूखे बच्चों का पेट भरना चाहती है, और जब यह भी नहीं कर पाती तो चिल्लाती है, अपने पति को दोष देती है और जिसके परिणाम में उसे मिलती है ऐसी ठोकर कि वह ड्योढी से जाकर टकराती है और घर बेपर्द हो जाता है।

उसका बचपन को नज़दीक से देखने से उसके पात्र आधे—अधूरे के पात्रों के साथ गड्डमड्ड होने लगते हैं जहाँ जानकी सावित्री से, बाबा की नाकामयाबी और अधूरापन महेंद्रनाथ के अधूरेपन से, देवी का लक्ष्यविहीन और बेमानी जीवन सावित्री की बेटियों के बेमानी जीवन से और फिर उसी तरह की भटकनें और यौन कुण्ठाएँ..... सब मिलकर हमारे सामने एक कोलाज बनाने लगते हैं।

जरूरत है इस कहानी को बच्चे की नज़र के साथ–साथ एक परिपक्व नज़र से देखने की और उन कारणों की पडताल करने की जिनके चलते जानकी इतनी बुरी हो पायी।

बीरू और उसका बचपन : पितृसत्तात्मक नज़रिये से निर्मित बाल मनोविज्ञान

बीरू कहानी में आदि से अन्त तक माँ के रूखेपन, कडवे बोल और दादी को कोसने, पिता से लडने और देवी को धमकाने के कारण तथा कभी भी उसे एक समय भी भरपेट भोजन न देने के कारण अपनी माँ को नापसंद करता है। इतना नापसंद कि दादी के मरने की खबर सुनकर वह माँ के मरने की भी कल्पना करने लगता है और विडम्बना यह कि ऐसा करते हुए उसे ज़रा सा भी दुख नहीं होता।

एक बेहद छोटे बच्चे के मनोभाव को पकड़ने में लेखक लगभग सफल रहे हैं। एक बच्चा इन सारी परिस्थितियों में किस प्रकार अपना बचपन खो देता है। किस तरह अपने हंसने के साथ–साथ रोने तक की इच्छा पर काबू पा लेता है, किस तरह उसका मन एक ही स्तर पर भीतर–भीतर कितनी लडाइयाँ लड़ रहा है। वह अपने परिवार को सात परदों में छिपा लेना चाहता है, वह बच्चों के साथ खुलकर हँस नहीं पाता, खेल नहीं पाता। वह जानता है कि ऐसा करने पर सब उस पर, उसके घर की ग़रीबी पर, उसके घर से आने वाली आवाज़ों पर और ख़ासतौर पर उसकी माँ पर हँसेंगे और उन सबका मज़ाक़ उडायेंगे।

लेकिन इस सबके बावजूद यह भी उतना ही बडा सत्य है कि बीरू के मनोविज्ञान का निर्माण एक पितृसत्तात्मक मानसिकता के साथ हुआ है। वह माँ के दुख सुनकर कभी–कभी विचलित भी होता है लेकिन अधिकांश स्थानों पर वह माँ को नापसंद करने लगता है, वह माँ के चीख़ने–चिल्लाने और बाबा से लड़ने के लिए माँ को दोषी ठहराता है। कथा के सभी पात्र और ख़ासतौर पर देवी भी माँ यानी जानकी को ग़लत मानते हैं और पाठक होकर हम भी बीरू और घर की दयनीयता से जुड तो जाते हैं लेकिन जानकी के साथ न्याय नहीं कर पाते। इस कथा में जानकी का व्यक्तित्व हाथ पकड़कर रोक लेता है और लगभग दोषी या कभी–कभी खुद को अदेखा करने के विरुद्ध गुहार लगाता है।

'उसका बचपन' को नेमिचन्द्र जैन ने काव्यात्मक वक्तव्य कहा है। मैं नहीं जानती कि किस प्रकार यह काव्यात्मक वक्तव्य है क्योंकि यदि 'उसका बचपन' काव्यात्मक वक्तव्य है तो हिन्दी की अधिकांश सफल रचनाएँ, कहानी, उपन्यास उसी श्रेणी के अन्तर्गत आते हैं। किन्तु कुल मिलाकर शिल्प की दृष्टि से यह बेहतरीन बन पड़ा है। हाँ, वस्तु की दृष्टि से इसका स्त्रीवादी पाठ भी होना चाहिए।

सोनी पाण्डेय

कृष्ण बलदेव वैद का उपन्यास पढ़ते हुए मैं जीवन की उन पगडण्डियों की ओर लौटती हूँ, जहाँ लोक की गहन पीड़ा... संघर्ष और आत्मवेदना घने कोहरे सी पसरी है। बीरु उस संघर्ष लोक का प्रतिनिधि है....माँ–पिता का संघर्ष, दादी का बुढ़ापा, जलालपुरी, पारो जैसे पात्र काल्पनिक हो ही नहीं सकते। पढ़ते हुए प्रवाह में जब बहती हूँ,... लेखक का जीवन, चित्र सा उभरने लगता है। अर्थाभाव से पलायन करता पिता शराबी, जुआरी सब है ...किन्तु घर परिवार की तनिक भी चिन्ता पूरे कथा में नहीं दिखी। माँ के स्वभाव की विकृतियाँ परिस्थितिजन्य हैं। बाल विवाह की शिकार जानकी से जीवन की तमाम खुशियाँ रुठी रहीं, फिर क्यों न वह चिखे–चिल्लाए।

यह उपन्यास एक बच्चे के बचपन का दृश्यचित्रण है...बेहद मार्मिक...पूरा का पूरा लोक जीवन्त है। लेखक कहीं भी नहीं चूका है....गाँव, घर, देश, काल... बोली–बानी, हर जगह वह यथार्थ की डोर कस के थामे

पाठक के सामने बीरु के बचपन की एक–एक परतें खोलता है। सामने कर्कशा माँ है जिसके लिए अक्सर घृणा और सहानुभूति पनपती रहती है। आर्थिक तंगी से जूझता पिता अपनी तमाम कुण्ठाओं का अन्त माँ को दम भर मार कर करता है। यहाँ देखने की बात है कि माँ बेतहाशा पिट कर भी सुधरती नहीं हैं....सुधरना यहाँ विकल्प दरअसल था ही नहीं। एक लम्बा अभावों से भरा जीवन मनुष्य को जिद्दी बना देता है। माँ ज़िद्दी है और अपने ऊपर हुए हर हमले का दोषी बूढ़ी लाचार सास को मानती है। दोनों औरतों में पीढ़ियों का संघर्ष है....बूढ़ी औरत पोते बीरु को तो खूब स्नेह करती है किन्तु जिस तरह बेटे के आते बहू का उलाहना लेकर बैठ जाती है और दोनों में विवाद के बाद चैन से अपनी कथरी–गुदरी में दुबक जाती है,..उसे देख कर मुझे अपने गाँव की तमाम बूढ़ी सासों का चेहरा याद आने लगता है। अन्तर केवल इतना है कि मेरे गाँव समाज के मध्य, निम्नवर्गीय समाज का वर्ग संघर्ष इनसे थोड़ा सा भिन्न है,...जितना मैंने देखा–सुना है। यहाँ की प्रबल समस्या रोटी और भूख है....वहाँ बेकारी और दहेज की समस्या बड़ी है, जिसके कारण बेटियों के पिता अनमेल विवाह कर मुक्ति पाते है।

विवाह की समस्या यहाँ भी और येन केन प्रकारेण मुक्ति की माँ की कामना भी है ....प्रेम की सहज स्वीकृति यहाँ भी नहीं है, बस भिन्नता है तो विरोध की। यहाँ प्रेम का विरोध हिंसक नहीं है। कुटती–पीटती औरतों का दारुण दृश्य उसका बचपन में बार–बार दीखता है।

उसका बचपन अभावों भरे जीवन का दुखद अन्त है। बीरु के गले का फन्दा....पिता का बन्द दरवाज़ा और घुटने में सिर गाड़े सुबकती देवी, अपनी आख़िरी पूँजी कड़े के लिए दहाड़ती जानकी, व्यक्ति संत्रास की नहीं वरन निम्नवर्गीय समाज की दारुण कथा सी लगी। इसे पढ़ते हुए प्रेमचन्द का कफ़न याद आया। भूख और रोटी की समस्या वहाँ भी है, वहाँ भी है। अन्तर केवल इतना है कि यहाँ पढ़ा, लिखा नौकरीपेशा निम्नवर्ग है... समस्यायें यहाँ सुलझ सकती थीं....यदि शराब और जुए की बुरी लत न होती।

कहानी का शिल्प अद्भुत है....सारे के सारे पात्र जीवन्त। भाषा अपने प्रवाह में देश काल में पाठक को ले जाकर छोड़ देती है....वह बीरु के साथ–साथ चलता है, रोता है हँसता है, इतनी है यह जीवन्त कथा 'उसका बचपन'।

अनुपम सिंह

यह उपन्यास 'उसका बचपन' शीर्षक से एक बच्चे के जीवन की तरफ़ संकेत करता है परन्तु इसे तीन पीढ़ियों के संघर्ष के रूप में देखा जा सकता है। इस उपन्यास के कोर में है निम्न आर्थिक स्थिति वाला परिवार। जहाँ एक चहारदीवारी के भीतर कुछ लोग मिले ही इसलिए हैं, क्योंकि उनको एक जैसा दुख भोगना है और साथ में एक दूसरे के दुखों को बढ़ाना भी है। यहाँ परिवार संस्था की एक इकाई के रूप में एक बूढ़ी स्त्री है जो एक पीढ़ी का प्रतिनिधित्व करती है। जो कि, "मैली कुचौली, सिकुड़ी, सिमटी, ठिठुरी और उलझी हुई सी जैसे किसी ग्रामीण की कोई ढीली गठरी हो जो किसी भी समय खुलकर बिखर सकती है"। यह उस बूढ़ी स्त्री (दादी) का चित्रण जो अपने हिस्से का अभिशाप, यंत्रणा भोगने के लिए जीवित है। प्रथम दृष्टया तो कहा जा सकता है की इसके दुख का कारण एक दूसरी स्त्री ही है, जो बहू की भूमिका में है। लेकिन वह स्त्री स्वयं भी अपने हिस्से की यंत्रनाएँ झेल रही है। दूसरी पीढ़ी के पति और पत्नी एक दूसरे के लिए ग़ैरज़रूरी ज़रूरत हैं। पति, पत्नी और बच्चे किसी का सम्बन्ध सहज स्वाभाविक नहीं है। सब एक दूसरे को किसी अदृश्य नरक की तरफ़ ढकेल रहे हैं। आभाव ही इनके जीवन का स्थायी भाव है। यहाँ पुरुष इसलिए जुआ खेलता है, क्योंकि वह अपने जीवन में रोज़–रोज़ होने वाली किचकिच से ऊबा हुआ है, क्योंकि स्त्री रोज़–रोज़ आटा, दाल आदि की शिकायत करती है, शिकायत करती है की चूल्हे के लिए लकड़ियाँ सूखी नहीं हैं, चूल्हे में आग नहीं सिर्फ धुआँ उठता है, उसके कनस्तर में आटा नहीं, चावल नहीं, दाल नहीं। वह स्त्री इसलिए भी खूंखार दिख रही है की शाम को यदि खाना नहीं बना पायी तो सभी उसकी ही ग़लती ठहरायेंगे। बच्चे उसी से भूख–भूख कहेंगे। सास यह कहेगी की इसने जानबूझकर कुछ खाने को नहीं दिया। वह अपनी सारी मानवीय कोमलता खोकर दिन–रात झगडती रहती है। इस स्त्री पात्र को किसी स्त्रीवादी सिद्धान्त पर नहीं कसा जा सकता।

अभावग्रस्त जीवन में यदि अशिक्षा भी हो तो उसकी मार कई गुना बढ़ जाती है। ये परिस्थितियाँ एक दूसरे की सह उत्पाद है। इस उपन्यास में बाक़ी के जिन पात्रों और परिवारों का भी चित्रण है, वह भी वैसे ही परिवेश में रहने वाले लोग हैं, परन्तु लेखक ने इन पर बहुत हल्का प्रकाश डाला है, लेखक का इरादा उनकी स्थितियों को प्रकाशित करना नहीं है। क्योंकि उनका भी जीवन कमोबेश वैसा ही है। लेखक अनावश्यक दुहराव से बाख गया है इस उपन्यास में बहुत कम पृष्ठों में बहुसंख्य परिवारों को बिना चित्रित किये परिवेश से जोड़ दिया गया है। तीसरी पीढ़ी जिसमें की बच्चे हैं, वो बच्चे माँ बाप के रोज़–रोज़ के झगड़ों से खुद को अलगाना चाहते हैं, लेकिन यहाँ ऐसा जाल बुना गया है की कोई इससे अलग नहीं हो सकता है। जो इस परिस्थिति में पैदा हुआ है उसकी परिणति बीरू और देवी के जैसी ही होनी है। देवी जो एक किशोर लड़की है, जो आभाव का जीवन तो जीती है, लेकिन प्रेम के प्रस्फुटन में यह अभाव कहीं आड़े नही आता। जो अपनी माँ की गलतियों पर उससे लड़ती है और माँ उससे किसी बेटी की तरह नहीं बल्कि एक औरत की तरह व्यवहार करती है। परन्तु जब एक अधिक उम्र का रिश्ता लाते हैं पिता तो एक माँ की तरह वह विरोध भी करती है। तमाम लड़कियों की ही तरह देवी भी घर छोड़कर भाग जाना चाहती है, लेकिन भाग नहीं पाती। बढ़ती उम्र और उसके मनोभावों में स्वाभाविक परिवर्तन, घर में सघन अँधेरा–सा फैला आभाव, गरीबी अनेक अनजानी राहों पर चलने के लिए ढकेल देता है। बीरू जो आठ दस वर्ष का बच्चा है, इस घर में सबके प्रति बराबर का प्रेम रखता है। चाहे दादी हों जो माँ को किसी न किसी बहाने दण्डित करवाती रहती हैं, चाहे माँ जो दादी से उनके किये और न किये का भी बदला लेती रहती हैं या खुद पापा जो माँ को कभी–कभी बिना गलती के सज़ा दे देते हैं। जिनको कोई सज़ा नहीं दे सकता इन सब से प्रेम करता है वह, इन सबके दु:ख में वह बराबर का दुखी होता है। कभी दु:ख को समझता है कभी नहीं भी। वह माँ के बुढ़ापे और गाढ़े दिनों का सारथी बनाना चाहता है लेकिन वह यह भी नहीं जानता की कैसे बनेगा, क्या करेगा, उसे तो बस अपने माँ का रोना अच्छा नहीं लगता है। कभी–कभी वह चाहता है की माँ उसको ऐसे ही हमेशा प्यार करें, लेकिन जब कभी वे मारतीं हैं, बिना ग़लती के भी डाँटती हैं तो वह दुखी भी होता है। वह भूखा है लेकिन खेल–खेल में भूख को भुलाने की कोशशि भी करता है। वह स्कूल जाता है लेकिन वह अध्यापक से किताबों के लिए मार खाता है वह हर क्षण जीने की कोशिश करता है, मानों उसके बालमन ने जीने का कोई संकल्प लिया हो लेकिन एक क्षण ऐसा भी आता है मानों वह भूल गया हो अपना वही संकल्प, जीने का संकल्प और उसकी परिणति मौत में होती है। लेखक ने एक मनोचितेरे की तरह बड़ी सहजता से चित्रित किया है इस वर्गीय परिवेश को, उनके दुख, उनकी यंत्रणाओं को, पीढ़ियों के अन्तराल को, एक किशोर लड़की की चाहतों को, एक छोटे बच्चे के मनोभावों को, और अन्त में इस सब की परिणति एक बच्चे की मौत को भी।

हम क्या याद कर और क्या भूल रहे हैं?

शेषनाथ पांडे

"हम क्या याद कर और क्या भूल रहे हैं?" यह सवाल हमें गहरे तौर पर मूल्यांकन के लिए उकसाता है। वस्तुत: इसी आलोक में हम इसे देखे तो पायेंगे कि हम मूल्यांकन से अपने को विमुख कर रहे हैं और यह हमारी पहली बड़ी भूल है, जबकि सभ्यताओं के विकास में इस काल खण्ड के पास मूल्यांकन की सबसे उर्वर ज़मीन है। उर्वर इस मायने में कि किसी भी काल खण्ड में ज्ञान, ज्ञान के निष्कर्ष, संचार और सुविधा की एक साथ ऐसी उपस्थिति नहीं रही। यहाँ यह कहा जा सकता है कि हर काल खंड के पास अपने समय के अनुसार ऐसी उपस्थिति रही हैं और उस समय भी उस समाज का साहित्यिक सांस्कृतिक मूल्यांकन होता

रहा है। लेकिन कभी ऐसा नहीं हुआ कि आज जितने बड़े वर्ग के पास ज्ञान तक पहुँचने की सुविधा इससे पहले उसके पास हुई हो। और बात सिर्फ़ सुविधा तक पहुँचने की ही नहीं, इससे ज़्यादा वे निष्कर्ष हैं जो इस समकाल में हासिल हुए हैं।

हमने पहले के मूल्यांकन से अपने–अपने देश काल की सत्ता के चरित्र को उजागर किया लेकिन इस समय हम अपनी आँखों से स्पष्ट रूप से देख रहे हैं कि वैश्विक स्तर पर दुनिया भर की सत्ता एक साथ कैसे मिल कर काम कर रही हैं और मनुष्यता के साझे संघर्ष को राष्ट्र और नस्ल की सीमाओं में बाँट रही है।

इस समय में पहली बार हम न सिर्फ़ दुनिया भर की अत्याधुनिक तकनीक और अनुसन्धान देख रहे हैं बल्कि इसके साथ यह हम पहली बार देख रहे हैं कि हज़ारों सालों से बहती हुई नदियाँ आज सूख रही हैं, जंगल पहाड़ ख़त्म हो रहे हैं और यह संकट किसी एक राष्ट्र और किसी ख़ास नस्ल पर नहीं पूरी मानवता पर है। ऐसे में यह देखना ज़रूरी हो जाता है कि सभ्यता के विकास में हम जिन संकटों से जूझते आये हैं और उसे मनुष्यता के साझे संघर्ष से जोड़ न पाने की हमारी क्या विवशता रही हैं?

इस परिप्रेक्ष्य में देखें तो हम एक और बात भूल रहे हैं, बल्कि उसे अनदेखी कर रहे हैं और यह बात हमारी राजनीतिक चेतना से सम्बन्धित है। हम अपने ऊपर आये हुए संकट तो देख रहे हैं फिर भी जाति और सम्प्रदाय से इतने आबद्ध हो कर सोचते हैं कि जिन लोगों ने मनुष्यता के साझे संघर्ष के लिए स्वयं को होम किया उन्हें हम आपस में बाँट रहे हैं।

यह बात सबसे हैरान करने वाली है कि हम तमाम राजनीतिक समीकरणों द्वारा समाज को हलाल करते हुए देख कर भी ऐसे समीकरण की अवधारणा ले कर आते हैं जिसमें समाज के कुछ तबके को शामिल कर कुछ को छोड़ दिया जाता है लेकिन यह देखना बहुत ज़रूरी है कि वर्ण विभाजन के दर्द और उसकी जकड़ से अभी हम मुक्त भी नहीं हो पाये थे कि हमारे सामने उच्च वर्ग, मध्यम वर्ग और निम्न वर्ग जैसी जकड़ कुछ इस तरह से उभर रही है कि हम कहने लगे हैं कि "मारो मध्य वर्ग का यही हाल है", "अरे ये तो मध्यवर्गीय सोच है"। वस्तुत: हमारे लिए यह देखना ज़रूरी है कि हम अपने मूल्यांकन में रूपगत परिवर्तन के साथ अन्तर्वस्तु को कितना तरज़ीह देते हैं अन्यथा हम इस काल खण्ड में भी वही हासिल करेंगे जो करते आये हैं यानी आपसी संघर्ष। और यह संघर्ष भी एक खोखली गरिमा के साथ महानता और प्रसिद्धि का खेल खेलता रह जायेगा।

उपर्युक्त बातों को हम अक्सर राजनीतिक विचार और पत्रकारिता के मूल्य पर तौलने की कोशिश करते हैं लेकिन साहित्य का मूल्य राजनीति और पत्रकारिता के मूल्य से भिन्न होता है और यह भिन्नता ज़रूरी इसलिए है कि यह विचार की तरह कभी सर के बल, कभी पैर के बल खडा होने से ज़्यादा अनुभूति के बल चलता है लेकिन विचार और यथार्थ से इसकी साझेदार ज़रूरी तौर पर होती है। ऐसे में इसके मूल्य किसी अवधारणा की स्थापना से ज़्यादा अनुसन्धान की प्रवृत्ति को प्रश्रय देता है लेकिन हम स्थापनाओं पर अपनी लकीर खींच कर उसे अनुसन्धान मान आगे बढ़ जाते हैं। इस समय की रचनाओं में यह लकीर मोटी होती जा रही है। जब साहित्य समाज से दूर जा रहा हो या जब साहित्य समाज में अपनी जगह बनाने की कोशिश में लगा हो तो हमें इस भूल को लेकर सजग रहना चाहिए कि दुनिया की रफ़्तार के साथ कहीं साहित्य भी अपनी रफ़्तार में लकीर पर लकीर न खींचता चला जाय।

गौतम राजरिशी

अब अभिव्यक्ति के सारे ख़तरे
उठाने ही होंगे
तोड़ने ही होंगे मठ और गढ़ सब...

मुक्तिबोध की लिखी ये पंक्तियाँ, जो उनकी ख्यात कविता "अँधेरे में" का हिस्सा हैं, षायद सबसे ज़्यादा उद्धृत की जाने वाले काव्य–पंक्तियों में षुमार किये जाने का रौब गाँठती हैं। अपने दुरूह षिल्प और अबूझ बिम्बों का ताना–बाना लिए लगभग चालीस पृश्ठों में फैली (या सिमटी) हुई ये कविता आख़िर किस वज़ह से नयी कविता के सिरमौर का रुतबा अख़्तियार कर लेती है, समझने के लिए मेरे अन्दर का निरीह सा पाठक इसे पढ़ता है... बार–बार पढ़ता है, सैकड़ों बार पढ़ता है। सस्वर पढ़ने की कोषिष करता है, बुरी तरह से पराजित होता है। थम–थम कर... ठहर–ठहर कर पढ़ता है, एकदम पस्त निढ़ाल हो जाता है। और फिर कविता में यत्र–तत्र बिखरे कुछ अद्भुत जुमलों को उठाता है, अपनी डायरी में नोट कर इसे अपनी पाठकीय सफलता मान लेता है और देर तक इतराता है।

असंख्य अनगिन विमर्षों के इस हाहाकारी दौर में हिन्दी–साहित्य के हम जैसे कितने ही समर्पित पाठक तनिक कनफ्यूज़ से बैठे हैं। प्रगतिषीलता के नाम पर महज़ चंद कथित रूप से स्थापित नाम एक किसी रचना–विषेश को आख़िर किस पैमाने पर तौलते हैं और उसे भारी–भरकम विषेशणों, यथा "उत्तर–आधुनिक काल का प्रस्थान बिन्दु" या फिर "भूमण्डलीकरण के ख़तरे

के विरुद्ध षंख–नाद", से सुषोभित कर हमारी तरफ उछाल देते हैं कि लो पढ़ो! नहीं समझ में आने का ऐलान आपको मूर्खों, जाहिलों की पंगत में बिठा देता है और "अहा, क्या कविता है" जैसे कुछ उद्गार आपको अपने पाठक–मन के प्रति बेईमान बनाता है। कई सारे सवाल उमड़–घुमड़ कर बरसते हैं लगातार। क्या कारण है कि ठीक उसी समय की मणींद्र नारायण चौधरी उर्फ़ राजकमल द्वारा लिखी हुई कविता "मुक्तिप्रसंग" अपने षिल्प, अपनी वेदना, अपनी कसावट में मुक्तिबोध की "अँधेरे में" के बनिस्पत कई गुणा बेहतर होते हुए भी एकदम से नकार दी जाती है? या फिर खुद मुक्तिबोध की ही दूसरी कविता "ब्रह्मराक्षस", जो हिन्दी–साहित्य की समस्त लम्बी कविताओं में अपनी इमेजरी और खूबसूरत छन्द (गीतिका/मरुकनिका या उर्दू का बहरे–रमल) की एक मिसाल है, को ही क्यों नहीं "अँधेरे में" के जैसा रुतबा दिया जाता है?

मेरे अन्दर के सजग पाठक को यह सब कुछ एक बड़ी...बहुत बड़ी 'कॉन्सपिरेसी' का षातिर हिस्सा लगता है। जानता हूँ, इस अदने से पाठक के इस उद्गार पर कई भृकुटियाँ उठ खड़ी होंगी...लेकिन प्रत्युतर में मैं खुद अपने प्रिय कवि की ओट में जा खड़ा होता हूँ कि "अब अभिव्यक्ति के सारे ख़तरे उठाने ही होंगे"। एक बड़ी साजिष के तहत चतुराई से 'पॉलिटीकली करेक्ट' रहने की कुषलता आधुनिक कविता में अवसाद को स्थायित्व और कविताई को गुमषुदगी प्रदान करती जा रही है। कमाल की बात ये है कि जो कविता सारे मठ और गढ़ को तोड़ने का डंके की चोट पर ऐलान करती है, उसी कविता को वापस अघोशित किन्तु स्पश्ट रूप से दृश्टिगोचर मठ/गढ़ के निर्माण की नींव के तौर पर इस्तेमाल किया जाता है। साठोत्तरी कवियों और आलोचकों की एक पूरी पीढ़ी जिस तरह से कलावादी और प्रतिक्रियावादी कविताओं के ज़िक्र पर नाक–भौं सिकोड़ती दिखती है, उसी पीढ़ी को "अँधेरे में" का प्रतिक्रियावाद नज़र नहीं आता। जैसा कि "चाँद का मुँह टेढ़ा है", जिसमें यह कविता पहली बार संकलित होकर सामने आयी, के प्रथम संस्करण की भूमिका में खुद षमषेर जैसे हिन्दी कविता के महारथी लिखते हैं कि नागपुर में अपने प्रवास के दौरान एम्प्रेस मिल के मज़दूरों पर जब गोली चली तो मुक्तिबोध रिपोर्टर की हैसियत से घटनास्थल पर मौजूद थे। "अँधेरे में" षीर्शक कविता उनके नागपुर जीवन के बहुत सारे सन्दर्भ समेटे हुए है। क्या अधिकांष कवितायें किसी न किसी घटना–विषेश, स्थान–विषेश, सत्ता या साम्राज्य विषेश की प्रतिक्रिया में ही नहीं लिखी जाती? फिर कैसे कोई कविता प्रतिक्रियावादी का ठप्पा लगा कर ख़ारिज कर दी जाती है, और कोई कविता तमाम तरह के गहनों से लाद दी जाती है? जिस कविता को राजेष जोषी "एक विराट स्वप्न फैंटेसी" और मंगलेष डबराल "हमारे समय का इकलौता महाकाव्य" का मैडल देते हैं, क्या कारण है कि हिन्दी–साहित्य के गिन के तीन सौ पाठक भी नहीं मिलते, जिन्होंने इस कविता को पढ़ा तक हो?

ये प्रष्न विचलित करते हैं मुझ जैसे कविताषिक़ों को। लेकिन कविता के पाठकों का कविता से विचलित होना भी कोई मुद्दा है भला? जन की कविता जन का विशय उठाती है बस, लिखी तो प्रबुद्धों के लिए जाती है बस। एक बेहतरीन समकालीन कवि (जो की दोस्त भी है) ठसक के साथ ऐलान करता है कि वो 'क्लास' के लिए लिखता है 'मास' के लिए नहीं। लेकिन उसकी साफ़गोई एक कवि की ईमानदारी है और उस ईमानदारी का एक पाठक के रूप में सम्मान

करता हूँ। इतनी ही साफ़गोई की अपेक्षा तमाम कवियों से करता हूँ। "अँधेरे में" की कविताई में क्रिएट किया हुआ विस्तृत लैण्ड–स्केप, दरअसल मुक्तिबोध के कवि की पनाहस्थली है, जहाँ वो छुप कर बैठ जाता है। उस पनाहस्थली में कवि एक नायक का निर्माण करता है... नायक जो एस्केपिस्ट है। पता नहीं क्यों लगता है कि मुक्तिबोध ज़िंदा होते तो निष्चित रूप से खीजते, क्योंकि अपने दोस्त–कवि वाली ईमानदारी मुक्तिबोध में दिखती (मुक्तिबोध की तरह ही लिखूँ तो दीखती) है मुझे... इतनी कल्पना तो कर ही सकता हूँ उनका एक घनघोर पाठक होने के नाते। कम–से–कम इस एक कविता को इतनी बुलंदी प्रदान किये जाने के तिरकम पर तो निष्चित रूप से झुँझलाते वो। वही प्रगतिषील मोर्चा जो तुक (तीलउम) को एक सिरे से नकारता है, उसी मोर्चे को "अँधेरे में" के हास्यास्पद की हद तक बन आये तुकों से कोई परेषानी नहीं। हनु के साथ मनु, अकेले के साथ दुकेले, हायहाय–नुमा के साथ टॉलस्ताय–नुमा...लम्बी फ़ेहरिष्त बन जाएगी। मुक्तिबोध की ही पंक्तियों का फिर से सहारा लेकर कहना चाहूँगा इन समस्त दुदुंभी बजाते मोर्चों से– "स्क्रीनिंग करो मिस्टर गुप्ता, क्रॉस एक्ज़ामिन हिम थोरोली!"

जितना सोचता हूँ, यह सारा कुछ उतना ही एक बड़ी कॉन्सपिरेसी का हिस्सा लगता है यूँ इस तरह एक किसी कविता को सिरमौर घोशित कर देना। कविता पर चल रही, उठ रही तमाम बहसों की धमा–चौकड़ी में हम कविताषिकों को ये हिन्दी कविता का एक भीशण "लीन–पैच" वाला दौर नज़र आता है। लीन–पैच दरअसल क्रिकेट से जुड़ा षब्द है और उस बल्लेबाज के लिए इस्तेमाल होता है जो लगातार मैच दर मैच विफल हो रहा हो, रन ना बटोर पा रहा हो। एक तरह का मोह है ये लीन–पैच अपनी ही लिखी कविताओं के लिए अधिकांष कवियों का। दूर होते पाठकों को मृग–मरीचिका मान कर तमाम तरह की बहसें। अभी दो साल पहले एक स्थापित पत्रिका (वागर्थ) ने एक पीढ़ी–विषेश के कवियों की खेमेबाजी कर षेश सब कवियों को ख़ारिज करने की कॉन्सपिरेसी रची थी..."लॉन्ग नाईन्टीज" का ठप्पा लगा कर। हम सब पढ़ने वालों को दरअसल वो "नर्वस नाईन्टीज" की थरथराहट नज़र आयी उसमें। ...की तब जब कविता हर सफ़े, हर वरक़ पर असहाय कराहती नज़र आ रही थी, आत्म–मुग्ध कवियों की एक टीम बाकायदा बैंड–बाजे के साथ सामने आती है और एक दषक–विषेश पर चर्चा के बहाने अपने नामों और अपनी ही कविताओं का फिर–फिर से ढोल बजाती है। बड़े सलीके से एक प्रष्नावली बुनी जाती है और फिर उतने ही सलीके से चयनीत नामों की एक फ़ेहरिस्त को वो प्रष्नावली भेजी जाती है... कभी सुना था कि नयी–कहानी नामक तथा–कथित आन्दोलन के पार्ष्व में कहानीकारों की एक तिकड़ी ने सुनियोजित साजिष रच कर एक सिरे से हिन्दी–कहानी के तमाम षेशों–अषेशों–विषेशों को नकारने की ख़तरनाक सुपाड़ी उठाई थी। कुछ वैसा ही प्रयास हुआ इस "लॉन्ग नाईन्टीज" विमर्ष के बजरिये। सलीके की बुनावट इस कदर कि कोई नाराज़ भी न हो, कोई विवाद भी ना उठे...लेकिन पाठकों द्वारा नकारी हुई अपनी कविताओं पर चर्चा भी हो जाये। काष कि इतना ही सलीका इन महाकवियों ने अपने षिल्प और कविता की कविताई पर भी दिखाया होता...!!! हम पाठकों के ठहाके तो तब और ज़ोर–ज़ोर से छूटने लगते हैं, जब टीम–चयन के दौरान पहले तो एक कवि–विषेश (स्वप्निल श्रीवास्तव) को पूर्व–पीढ़ी का अन्तिम कवि कहते हुये ख़ारिज कर दिया जाता है और फिर तुरत ही उस कवि–विषेश द्वारा एतराज जताने पर पत्रिका के अगले अंक में उन्हें अपनी

पीढ़ी का प्रथम कवि मान लिया जाता है...हाय रे, इतनी उलझन तो भारतीय क्रिकेट–टीम के चयनकर्ताओं के दरम्यान भी नहीं हुई होगी टीम चुनते समय।

इस पूरे "लॉन्ग नाईन्टीज" विमर्ष में कॉन्स्पिरेसी की तमाम कलई तब बिखरती नज़र आती है, जब पहले तो ये सफाई दी जाती है कि "कविता या साहित्य में दषकवाद घातक है...किसी दौर की रचना पर दषक के अनुसार विमर्ष उचित नहीं" और फिर तुरत ही अपनी दुदुंभी बजाने की उत्कण्ठा में ऐलान किया जाता है कि "किन्तु लॉन्ग नाईन्टीज समय का प्रस्थान बिन्दु है"...और जिसे पढ़कर कविताई–आतंक से खौफ़ खाये हम पाठक मुस्कुराने लगते हैं इस षातिरपने पर। कैसी कविता, कहाँ की कविता कि जिसके सत्यापन के लिए एक पत्रिका के तीन से चार अंकों में जाने कितने पन्ने काले कर दिये गये। हम कविताषिक़ पाठक जो अधिकांषतया गद्य के अनुच्छेदों की ऊपर–नीचे कर दी गई पंक्तियों को इन महाकवियों द्वारा कविता कह दिये जाने पर आँख मूँद भरोसा कर लेते हैं और पढ़ते जाते हैं कि एक जुमले में ही सही, कहीं तो कविता का कवितापन दिख जाये...मगर हाय रे हतभाग! महाप्राण निराला के "मुक्त–छन्द" के आह्वान को कब चुपके–चुपके "छन्द–मुक्त" बना दिया गया और होने लगे तमाम तरह के विमर्ष भी उस पर... कविता की कॉन्सपिरेसी थ्योरी में ये सबसे अव्वल नंबर पर आती है। उधर पष्चिम में, पोएट्री "फ्री–वर्स" ही है अब तलक...उस जानिब किसी ने "वर्स–फ्री" बनाने की हिमाकत नहीं की है। क्योंकि उस जानिब अभी भी कविता को कविता बनाये रखना ही सबसे बड़ा विमर्ष है ना कि कथित आलोचकों का मुंह जोहना। लेकिन इस मुद्दे पर तो अब कुछ भी बोलना हाथी–चले–बाज़ार–कुत्ता–भूँके–हज़ार की तर्ज़ पर ही होता है अक्सर, जहाँ हाथी बिला षक वर्तमान कवियों की पूरी टोली के लिए आया है जो मदमस्त हो रौंदे चले जा रहे हैं अपने मासूम पाठकों को।

आइये, एक और थ्योरी का अवलोकन करते हैं आख़िर में। उदय प्रकाष इस दौर के महान कथाकारों में से एक हैं और जिस पर षायद ही किसी को संदेह हो, जिनकी कहानियों का तिलिस्म हम सब पर सम्मोहन की तरह छाया हुआ है और हमारी पूरी पीढ़ी खुद को खुषक़िस्मत मानती है कि हमने उस दौर में जन्म लिया जिसमें उदय प्रकाष ने कहानियाँ लिखीं। वही उदय प्रकाष अक्सर ही अपने वक्तव्यों में, विभिन्न साक्षात्कारों में ख़ुद को कहानीकार मानने से इंकार करते हैं और ख़ुद को एक कवि मनवाने में ही व्यस्त रहते हैं। हम जैसे उनकी मुहब्बत में डूबे उनके भक्तों को ये उनकी विनम्रता लगती है...लेकिन अतिषय विनम्रता भी कई बार संदेह की जननी होती है। ऐसा कह कर या ऐसा घोशित करके षायद वो कविता के उस सिंहासन पर स्वयमेव जा बैठे हैं, जहाँ से वो जिसे चाहे महान कवि होने का कवच–कुंडल प्रदान कर सकते हैं। अभी गत वर्श का ही भारत भूशण अग्रवाल सम्मान का विवाद इसी ओर इषारा नहीं करता? उस सिंहासन से जारी हुआ फ़रमान जहाँ एक स्थापित विलक्षण कवियत्री, जिससे हम पाठक हिन्दी–कविता के लिए ढेर सारी उम्मीदें बाँधे हुए थे, की अति–साधारण सी (अमूमन हर पाठकों के लिए) कविता को एकदम से साल की श्रेश्ठ कविता बना देता है, वहीं पैरोडी नामक एक चिप–सी विधा को कविता के प्रांगण में दाख़िला करवा देता है। निकट ही इसी कॉन्सपिरेसी का साइड–इफेक्ट यूँ होता है कि दो–तीन प्रतिभाषाली युवा कवियों की

टोली छ्दम स्त्री नाम से फेसबुक पर कविता का हाहाकार मचा देती है। सोषल मीडिया पर उठे तूफ़ान के पीछे ज़रा सा हम झाँक कर देखें तो यह छद्म कविताई हाहाकार एक तरह से विरोध है इन युवा–कवियों का जो सवाल उठाता है कि यदि पोएटरी मैनेजमेंट उनमें से किसी ने लिखा होता तो षायद किसी का ध्यान तक नहीं जाता इस कविता पर।

सच कहूँ, तो यह सब सोच कर एक सिहरन सी होने लगती एकदम से...कुछ कुछ वैसी ही सिहरन जो गुमनामी बाबा के सुभाश चन्द्र बोस होने और उनके उस हवाई दुर्घटना में ज़िंदा बच जाने की बातों को सुनकर उत्पन्न होती है या फिर चाँद पर नील आर्मस्ट्रोंग के न उतरे होने की बाबत सुनकर कि वीडियो में तो आर्मस्ट्रोंग के पीछे का अमेरिकन फ्लैग लहराता दिखता है जबकि चाँद पर तो हवा होती ही नहीं...

और कविता की इन तमाम कॉन्सपिरेसी थ्योरी से बौखलाया हुआ ये कविताषिक़, प्रार्थना करता हुआ कि ये सब सिर्फ़ और सिर्फ़ एक थ्योरी ही हो और कविता इनसे परे, इन सबसे हट कर अभी भी षायद पवित्र बची हुई हो, लौटता है मुक्तिबोध की ओर आश्रय के लिए पुनः

उन्हीं के शब्दों में–
खोजता हूँ पठार...पहाड़...समुन्दर
जहाँ मिल सके मुझे
मेरी वह खोयी हुई
परम अभिव्यक्ति अनिवार
आत्म–संभवा !

हेमंत देवलेकर

यदि हम प्रगतिशीलता के पक्षधर हैं और विचारों में निरन्तर परिष्कार को महत्व देते हैं तो निश्चित रूप से हम कुछ बिसरायेंगे ही। आधुनिकता के प्रति हमारा विनम्र आग्रह हमें बहुत कुछ छोडने– भूलने के लिए भी बाध्य करेगा। पर यह भूलना क्या है? क्या यह कृतघ्नता की तरफ़ जा रहा है? यह भूलना कहीं नकारना तो नहीं है उस समष्टि को जिससे हमने जीवन का रस बटोरा...?

क्या यह भूलना हमारे कई किस्म के मूल्यों को दरकिनार कर देने की चेष्टा तो नहीं? जैसे कई प्रश्न इस आलेख की पहली पंक्ति के प्रतिपक्ष मे सहज ही खड़े हो गये हैं। तो पहला विचार हम भूलने के बारे में करना चाहेंगे कि कभी यह भी सम्भव है कि हम बिना जाने–समझे अज्ञानतावश, सम्वेदनहीन होते हुए बिना किसी भी प्रकार का तार्किक परीक्षण किए सीधे उन पुरातन मूल्यों की और संस्कृति की अवमानना करते हैं, उसे अदेखा करते हैं, जिसे हमारी पूर्ववर्ती तथा यत्किंचित् समकालीन पीढ़ी भी स्वीकार करती आयी है। जिन मूल्यों व सांस्कृतिक उपादानों से हमने जीवन का आलोक ग्रहण किया, उसे अचानक नज़र अंदाज़ करना मनुष्य के लिए बहुत बड़ा जोख़िम है और संकट भी। हमारी सभ्यता ने जिन सामाजिक, मानवीय, राजनैतिक व सांस्कृतिक मूल्यों का कालान्तर में आविष्कार किया, उनका निरन्तर परिष्कार किया उनके प्रति हमारी अनासक्ति व उदासीनता हमारे सुसंस्कृत होने पर एक गहरा प्रश्न–चिह्न लगाती है। यह छद्म आधुनिकता के भ्रम से उपजी परिस्थिति का परिणाम है। किन्तु जिन प्राचीनताओं की यहाँ बात हो रही है उनमे सशोधन, नवाचार व अनुसन्धान होना हर कालावधि मे अवश्यंभावी होने लगता है या कि बड़ी ही सहजता से वह 'नवीनता' या 'परिष्करण' से आबद्ध होने लगती है। इसी सन्दर्भ में महाकवि कालिदास की उक्ति याद आ रही है" पुराना हमेशा उत्कृष्ट होगा और नया हमेशा गुणहीन, यह बिलकुल आवश्यक नहीं है"। विवेकपूर्ण ढंग से सोचें तो आज भी हम विकसित होने की प्रक्रिया में शामिल हैं और यह प्रक्रिया आद्यंत चलती रहेगी। इसलिए पुरानी रीतियों, रूढ़ियों, मान्यताओं के बारे में सिर्फ़ भावुक होकर नहीं सोचा जा सकता। उसे ऐसी वैज्ञानिक कसौटी पर कसकर देखना होगा जो अधिक मानवीय हो। कुँवर नारायण की प्रसिद्ध कविता की पंक्तियाँ हैं– "अबकी अगर लौटा तो वृहत्तर लौटूँगा .... अबकी अगर लौटा तो मनुष्यतर लौटूँगा।"

"हम क्या भूलते और क्या याद करते जा रहे हैं" विषय पर जब विचार करता हूँ तो मुझे लगता है हम पिछले कुछ समय में बहुत कृतघ्न हुए हैं, अहसान फ़रामोशी हमारे स्वभाव से होते हुए हमारे रक्त में भी प्रवेश कर गयी है। इस भाव के साथ यही अनुभव होता है कि भूलने या भुला दिये जाने की फ़ेहरिस्त लम्बी है। हमने

कई ऐसी बातें भुलाने की कोशिश कर डाली जिससे हमारे मनुष्य का आत्मगौरव नष्ट हुआ और हम ऐसे चौरस्ते पर आ गये जहाँ से सारे रास्ते हमारे बनाये ब्लॅकहोल की तरफ़ जाते हैं। भूलने की प्रतिक्रिया स्वरूप जो परिस्थितियाँ बनीं उनसे हम एकाकी हुए, विपन्न हुए। संवेदनहीन हुए, प्रेम और मनुष्य के कर्तव्यों से विमुख हुये। हमने प्रकृति के साथ जीना भुला दिया, प्रकृति से प्यार करना छोड़ दिया। करुणा, दया, वात्सल्य जैसे कई मानवीय भाव भूल गए। उदारता, सहनशीलता, रिश्ते–नाते, क्षमाशीलता, सद्भावना जैसे कई मानवीय मूल्य बिसूरते गए। अभी किसी क्रान्ति की गुंजाइश नज़र नहीं आ रही तो क्या ही अच्छा है कि अपने इतिहास को झुठलाया जाये। तो हम अपने इतिहास को भुलाने लगे। किसी भी राष्ट्र का इतिहास सिर्फ़ स्वर्णिम नहीं हो सकता, सिर्फ़ गौरवशाली भर नहीं हो सकता। उसमें कई ऐसे भी क्षण होते हैं जिनमें हमारी कायरता, पराजय, विवशता, आत्मग्लानि जैसे कई त्रासद अध्याय भी शामिल होते हैं। चूंकि हम मनुष्य हैं, गुण–दोषों और अच्छाई–बुराई से भरपूर। तो हमारा इतिहास उज्ज्वल भी होगा और काला भी। उसके प्रति उदार दृष्टि और सम्यक संवेदना ज़रूरी है। किसी भी अन्य देश की तुलना में भारत में सबसे ज़्यादा यदि ह्रास हुआ है तो वो है नागरिकता बोध में। जिस जन गण को राष्ट्रगान में भारत भाग्य विधाता कहा गया है उसी जन ने देश के सामाजिक व सांस्कृतिक ढाँचे को कमज़ोर किया, तिरस्कृत किया। हमने राष्ट्रवाद जैसे शब्द के पक्ष–विपक्ष में कई मोर्चे खोले, बहस को इंक़लाबी जामा पहनाया, मगर राष्ट्रबोध जैसे नैतिक दायित्व को भूल गए। मशहूर फ़िल्म लेखक अंजुम राजाबली ने सिनेमा लेखन कार्यशाला के दौरान प्रश्न किया था कि वर्तमान में सभ्य होने की क्या पहचान है... जिसके जवाब में उन्होंने कहा कि एक–दूसरे की असहमतियों के बाद भी हम एक–दूसरे से प्रेम करें, सम्मान करें। आज हमारे समय और जीवन से सहिष्णुता और उदारता ग़ायब है। असहमति के बाद भी एक–दूसरे का सम्मान करने और प्यार करने का ज़ज़्बा ग़ायब है।

अपनी जीवन शैली, कलाएँ... ख़ासकर लोक कलाओं को हम भूलने लगे हैं। जिस लोक संस्कृति ने हमारे आचार–विचार तथा हमारे अस्तित्व को समृद्ध किया, उसे एक तरह से नकारकर विदेशी शैली की नक़ल को अपनाने लगे हैं और अपने बहुमूल्य ख़ज़ाने को भुलाते चले हैं।

भाषा की दृष्टि से देखें तो अपनी लिपि, व्याकरण, वर्तनी इत्यादि पर घोर संकट है। ख़ासकर मोबाइल और सोशल मीडिया पर हिन्दी भी रोमन में लिखी जा रही है। नयी पीढ़ी के सामने लिपि के साथ ही सम्पूर्ण भाषा को जानने–समझने व उसे व्यक्त करने का एक बड़ा संकट खड़ा हो गया है। कई हिन्दी शब्दों का रोमन में अजीब ढंग से संक्षिप्तीकरण किया जा रहा है। नवागत जन हिन्दी के मूल शब्दों, उनके हिज्जे, वर्तनी से पूरी तरह अनभिज्ञ हैं। युवाओं के साथ हिन्दी–रोमन का संकट सिर्फ़ टाइपिंग के सन्दर्भ में नहीं है, बल्कि वे जब लिखते हैं तो भी रोमन में लिख रहे हैं। कई बाल लेखन कार्यशालाओं में जहाँ ज़्यादातर बच्चे इंग्लिश मीडियम के थे, उनको शाला में हिन्दी में बोलने पर तिरस्कृत किया जाता था व किसी रूप में ण्डित भी। उनके पास ज़ाहिर है शब्द सम्पदा नहीं है, वे सब हिन्दी को रोमन में लिख रहे हैं। तो लेखन कार्यशाला का आरम्भ बिन्दु हमेशा यही होता है कि अपनी भाषा के प्रति गौरव भाव कैसे विकसित हो। शब्द सम्पदा कैसे बढ़े। लेखन कार्यशाला में कई विधियों में से एक विधि मैं यह भी आजमाता हूँ कि बच्चों के विद्यालय व उस परिसर में जो भी सजीव–निर्जीव चीज़ें हैं उन्हें सिर्फ संज्ञा के रूप मे लिखना है। तो इस तरह उन्हें पहली बार शब्दों की कमी भी पता चलती है और उनका महत्व भी पता चलता है।

जबसे हमारे हाथ में स्मार्टफोन आया है हमारी एकाग्रता, एकान्त, धैर्य को सबसे ज़्यादा आघात पहुँचा है। हमारी चुप्पी, साधना ये सब नष्ट हुए हैं। किताबों से चिपके रहना, उन्हें सीने से लगाना, तकिये के नीचे रखना ये

सारे दृश्य धीरे–धीरे हमारे अनुभव से ग़ायब हो रहे हैं। आधुनिक समय मे टेक्नोलॉजी विज़ुअल संसार की रचना करने में लगी है। तकनीक ने सब कुछ को दृश्य में बदल दिया है। तो निश्चित ही भाषा पर भी उसने प्रभाव बरपाया। किताबें स्क्रीन पर पढ़ी जाने लगीं हैं। यहाँ मैं इस बात को जोड़ना चाहूँगा कि किताबें भले ही स्मार्ट फ़ोन या कम्प्युटर पर पढ़ी जा रही हों किन्तु वह अध्ययन की जगह या माध्यम नहीं है क्योंकि उन यन्त्रों में फेसबुक, वाट्सएप्प, ई–मेल, चेट इत्यादि सामाजिक–संवाद लगातार हो रहे हैं। बार–बार ध्यान भंग की स्थिति बनती है, एकान्त टूटता है। इसी परिप्रेक्ष्य में थोड़ा कठोर होकर, किंचित पूर्वाग्रह के साथ ही सही पर कहने का मन करता है कि अब लम्बी साधना के समय का अन्त हो गया है। यह कोई भविष्यवाणी नहीं है किन्तु एक विशाल चिन्ता है। लम्बा रियाज़, लम्बी प्रस्तुतियाँ, लम्बे उपन्यास अथवा कहानियाँ... इन सब पर उस सोशल मीडिया तकनीक का असर पड़ा है। जिससे एकान्त, धैर्य, आत्म मंथन इन सब पर संकट छाया है।

हमारे समय का यह एक घिनौना सच है कि बचपन आज सुरक्षित नहीं है। हम पाश्विकता, नृशंसता में इतने आगे बढ़ गये कि बच्चों को हर एक पर संदेह करना सिखाया जा रहा है। सोचिए, कितनी ख़ौफ़नाक स्थिति है कि घरों में बच्चों को बलात्कार के बारे में आगाह किया जा रहा है। २–३ साल की बच्चियों को दैहिक शोषण क्या और कैसे होता है इस बारे मे सावधान किया जा रहा है। उन्हें बचाव के तरीके बताये जाने लगे हैं। कितना शर्मनाक और वीभत्स है हमारे समाज का यहाँ तक आ जाना। बाल अपराधों का ग्राफ पिछले कुछ सालों में भयावह तरीके से बढ़ा है। हमारी वासनाओं, यौन जुगुप्साओं–कुंठाओं ने हमारे चरित्र को, हमारी असलियत को उजागर कर दिया। हमारा यह पतन खुद हमको चौंका रहा है, हमारी संवेदना, हमारे मनोविज्ञान पर साल खड़े कर रहा है। मुझे याद आता है कुछ बरस पहले तक हम अपने मोहल्ले के कई बच्चों के संग खेलते थे, उन्हें घुमाने ले जाते थे, खिलाते थे। तब आज की तरह कोई घृणित विचार किसी के मन में नहीं आता था। बच्चों के अभिभावक भी निष्चिन्त रहते थे। लेकिन अब जो भयानक स्थिति बनी है उसमें अभिभावक भी शामिल हैं। ऐसे हालात में बच्चे कैसे और कहाँ सुरक्षित रहेंगे, इसका जवाब हमारी नैतिक ज़िम्मेदारी को ढूँढना होगा।

जिस तरह हमारा शरीर रक्त, मांस, मज्जा आदि से बना है उसी तरह हमारा अस्तित्व कई तरह के पासवर्ड से मिलकर बना है। याद करने के सन्दर्भ मे सोचें तो हम अपने ही पासवर्ड याद रखने का उपक्रम करते हैं। हम कई प्रकार के पहचान–पत्रों को सहेजते रहना याद करने लगे हैं।

आज भी आर्थिक स्वतन्त्रता का एक लगभग नक़ली परचम लहराते, हमारे समाज को अपने आप से यह प्रश्न पूछने की ज़रूरत है कि वह महिलाओं का, ख़ासकर अकेली महिलाओं का कितना सम्मान कर रहा है? क्या एक महिला का सबसे बड़ा दर्जा उसका पत्नी अथवा माँ होना है? जब तक ऐसा रहेगा, हम सभ्यतागत अथवा सांस्कृतिक प्रगति नहीं कर पायेंगे। महिलाओं को व्यक्ति के रूप में स्वीकारना, उनकी निजता का सम्मान करना एक सामाजिक ज़िम्मेदारी होनी चाहिए।

हम इन ज़िन्दगियों के सवालों में ज़्यादा उलझे होते हैं, और असल शोधपरक, तार्किक अथवा हरित क्रान्ति की प्रगति नहीं कर पाते। हमें उन कारणों को याद करना चाहिए, जिनकी वजह से हम गुलाम बने। मिलिट्री तकनीक के आविष्कार में हम यूरोप से इतना पीछे थे, कि वो जहाज़ों से समुद्र पार कर हमें एक उपनिवेश में तब्दील कर पाये।

भारत के प्राचीन मनीषियों, चिन्तकों ने जीवन–शैली के सन्दर्भ में जो सूत्र दिये हैं हम उन्हें याद रखें, सहेजें और इस दुनिया को अधिक प्रेमपूर्ण व सुन्दर बनायें।

शिव कुमार यादव

''हम क्या याद कर और क्या भूल रहे हैं?'' यह विषय गोस्वामी तुलसीदास की कविताओं की तरह ही जितना सरल है उसके विस्तार में जाने पर उतना ही जटिल। इसमें अभिव्यक्ति की अपार सम्भावनाएँ निगूढ़ हैं जिसे कुछ सौ शब्दों में बाँधना थोड़ा कठिन है। ख़ैर, जब मैं इस विषय पर विचार कर रहा था तो मुझे मुक्तिबोध की कुछ पंक्तियाँ याद आ रही थीं जिसमें वे कहते हैं– ''अब तक क्या किया,/जीवन क्या जिया,/ज़्यादा लिया, और दिया बहुत–बहुत कम/मर गया देश, अरे, जीवित रह गये तुम।।'' कहना न होगा कि आज हम ऐसे समय में जी रहे हैं जहाँ सभी दिशाएँ अंधकारमय हैं। कुछ भी साफ़–साफ़ दिखना कठिन है। एक समय था जब भू–धर केवल जलती मशाल की तरह मौजूद थे, पर आज कोई भूधर दिखायी नहीं पड़ रहा है। असत्य लगातार सत्य में परिवर्तित होता चला जा रहा है। जनता ने अपने टुच्चे स्वार्थों के वशीभूत होकर टेरियर कुत्तों को पाल लिया है। तर्कों के हाथ उखाड़ दिये हैं। राष्ट्रवाद और देश के नाम पर वह सब–कुछ हो रहा है, जिससे देश की आत्मा आहत होती है। भूमण्डलीकरण और पूँजीवाद ने जिस बाज़ारू संस्कृति को जन्म दिया है वह मानवता तथा मानवीय सभ्यता के लिए बेहद ख़तरनाक हैं। यही वही संस्कृति है जो मनुष्य को, मनुष्य की तरह नहीं, प्रोडक्ट की तरह देखती है। और इस्तेमाल करती है। यहाँ न तो मूल्य होते हैं न मानवता,।

न तो नीति होती है, न मर्यादा। न आदर्श होते हैं, न उपदेश। यहाँ रोबोट की तरह खड़ा मनुष्य दूसरे मनुष्य को अर्थ के तराजू पर तौलकर गेट आउट कर देता है। शायद इसीलिए त्रिलोचन 'आदमी की गन्ध' शीर्षक कविता में कहते हैं– ''शहरों में आदमी को आदमी नहीं चीन्हता। पुरानी पहचान/भी बासी होकर बस्साती है। आदमी को आदमी की/गन्ध बुरी लगती है। इतना ही विकास, मनुष्यता का/अब हुआ है।'' कहना ही होगा कि आज का सुविधाभोगी, अवसरवादी मनुष्य अपने प्राकृतिक नैसर्गिक गुणों दया, माया, ममता, करुणा, प्रेम, सद्भाव, परोपकार और भाईचारा आदि को भूलता चला जा रहा है तथा मनुष्यता को कलंकित करने वाले क्रिया व्यापारों को गले का हार बनाता हुआ अग्रसर है। इसमें हत्या, बलात्कार, छलात्कार, छल–कपट, ईर्ष्या–द्वेष आदि प्रमुख हैं। आज हम ऐसे समय में रह रहे हैं जहाँ फ़ासीवादी ताक़तें लगातार अपने हाथ–पाँव फैलाये आगे बढ़ रही हैं। उर्वर एवं प्रगतिशील विचारों का दमन जारी है। वर्चस्ववादी ताकतें न केवल ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक बलिदानों, व्यक्तित्वों, संस्थाओं, मूल्यों एवं मान्यताओं को मिटा रही हैं बल्कि इतिहास का अन्त भी कर रही हैं। इतिहास से कटना अपनी संस्कृति से कटना है। अपनी संस्कृति से कटना, मनुष्यता से कटना है। अपने समय का क्रूर होना इसी बात का परिचायक है। आज का मनुष्य लगातार विचार शून्य होता चला जा रहा है। संवादहीनता आज का मुहावरा बनता चला जा रहा है। यह स्वाभाविक सी बात है कि जहाँ विचार नहीं होंगे वहाँ संवाद भी नहीं हो सकते हैं। और जहाँ संवाद नहीं होंगे वहाँ मनुष्य– मनुष्य के बीच दूरी का बढ़ना स्वाभाविक है। कहना ही होगा कि हम उन महान विचारों को विस्मृत करते हुए चल रहे हैं जो हमें मनुष्यता के कोमल धागों से बांधे रहते हैं। मुक्तिबोध ने जिस 'संवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक संवेदना' की बात की थी उसमें से संवेदना लगातार ग़ायब होती चली जा रही है। ज्ञान भी अब वह ज्ञान नहीं है जो 'सत्य पहले फिर आत्मरक्षा' को प्रोत्साहित करता है।

जीवनदायिनी प्रकृति के बिना मनुष्य का जीवन असम्भव है। यह जानते हुए भी हम विकास के नाम पर प्रकृति को रौंदते हुए चल रहे हैं, जो मानव सभ्यता के विकास के लिए बहुत हानिकारक है। असमय बाढ़, सूखा, भूकम्प, तूफ़ान आदि प्राकृतिक आपदाएँ, प्राकृतिक असन्तुलन के कारण ही उत्पन्न होती हैं। अपने टुच्चे स्वार्थों के लिए प्रकृति को भूलना, मनुष्य की प्रकृति में परिवर्तन को द्योतित करता है। आज जिसे हम सबसे ज़्यादा याद कर रहे हैं वह है धर्म। कहना न होगा कि आज हम ऊर्ध्वमुखता की ओर नहीं अधोमुखता की ओर बढ़ते चले जा रहे हैं जहाँ जाति, धर्म, सम्प्रदाय, वर्ग, वर्ण, मन्दिर, मस्जिद, गाय, गोबर का बजता डंका यह सोचने पर मजबूर कर देता है कि क्या आज भी हम बारहवीं–तेरहवीं शताब्दी में जी रहे हैं। जहाँ कुत्सित ब्राह्मणवाद तथा साम्राज्यवाद अपने असत्य तथा छल के कारण सत्ता का रथ हांक रहा है।

असाध्य वीणा

शायक आलोक

शीर्षक 'असाध्य वीणा' सर्वप्रथम मुझे एक असाध्य धनुष की पूर्वस्मृति की ओर लेकर जायेगा। वह विशिष्ट धनुष है जिसकी प्रत्यंचा चढ़ाने वाला सीता का वरण करेगा। एक से एक धनुर्धर आयेंगे सभा में लेकिन राम से सधेगा धनुष। यही कथा होगी। कथा एक उद्देश्य लेकर ही आगे बढती है। कुछ स्थापित करती हुई।

प्रथम पाठ में धार्मिक दार्शनिक बोध–कथा सी है यह कविता। बोध–कविता कहें इसे! यह अपने कथानक में विशिष्टताओं को रचती आगे बढ़ती है। प्रियंवद केशकंबली कोई आम व्यक्ति नहीं है। भले वह संगीत विशारद नहीं है, कलावन्त नहीं। किन्तु शिष्य है, साधक है। शिष्यत्व कोई विशिष्टता है। जो वीणा कलावन्तों से नहीं सधी उसे यह साधक साध लेगा, इसकी अपेक्षा है। अचानक यहीं मुझे फिर यह वीणा कोई वाद्ययन्त्र नहीं बल्कि एक 'मेटाफ़र' लगने लगता है। वीणा के मेटाफ़र से बात 'कंशसनेस' से जुड़ने की पात्रता की हो गयी है। जैसे मसि कागद छुए बिना कबीर एक बड़ा कवि हो गया है। हद अनहद के दो सिरों के बीच का पुल।

यह वीणा कोई आम वीणा नहीं है। कविता में इसकी कथा मौजूद है। यह मिथक कथाओं जैसी स्थिति है जहाँ महान देवता गण महान क्रियाओं से एक महान देवी की उत्पत्ति कर रहे। यह देवी अलौकिक उत्पत्ति भर नहीं होगी, वह लोक–बिम्बों से जुड़ेगी तब 'अपीलिंग' बनेगी। वीणा की कथा का आरम्भ राजन कह रहे जहाँ अलौकिकता है, शेष कथा प्रियंवद अपने मौन में सुन–देख रहे। महुए का टपकना, खग शावक की चिंहुक,

पर्वती गाँव के ढोलक की थाप, गड़ेरिये की बाँसुरी। मामला लौकिक हो रहा। प्रियंवद के मौन में आगे बढ़ते दृश्य पूरी चेतना, पूरी प्रकृति को ही इस वीणा में उतार देते हैं।

विशिष्ट वीणा को विशिष्ट व्यक्ति साधेगा। विशिष्ट व्यक्ति में फिर कुछ विशिष्ट गुण भी होंगे। प्रियंवद में पारम्परिक दृष्टिकोण के सब विशिष्ट गुण हैं। वह साधक है, वह शिष्यत्व का कृतज्ञ भाव रखता है, वह विनम्र है। वीणा उसकी गोद में है और वह महान वृक्ष की गोद का बालक हो गया है। मौन मुखरित है कविता में। सिद्धार्थ इसी मौन के साथ बुद्ध हो जाता है। मौन में चेतना उतरती है। लिंक बनने जैसी स्थिति। निजिंक्सी नाचते नाचते इतना विभोर हो जाता है कि एक ऐसी उछाल भरता है कि गुरुत्वाकर्षण विफल हो जाता है। उसने जब कभी सायास उछलने की कोशिश की तो असफल रहा। प्रियंवद असाध्य वीणा को साधने का दम्भ लायेंगे तो फेल होंगे।

सहसा वीणा झनझना उठी। राजा ने अलग सुना। रानी ने अलग सुना। सब ने भी अलग–अलग संगीत सुना। इस सुनने की अपनी अपनी इतर अन्यत्र अनुभूतियाँ। ट्रांसमीटर–रिसीवर वाली बात वही। हम अपना सुनते हैं, अपनी गुनते हैं। कविता का वैचारिक पूर्वग्रह समृद्धों को भौतिक निस्सारता से जोड़ेगा तो आम जनमानस अपने लौकिक अनुभूतियों से इस कला–विशिष्टता का मिलान कर आनन्द पायेगा। अमृत का स्वाद कैसा होगा, तो एक किसान ने कहा बाजरे की रोटी जैसा।

यह एक बोधपूर्ण चेतस कथानक की कविता है और कविता ने इतर व्याख्या के लिए बहुत अधिक अवसर नहीं छोड़ा है। आध्यात्मिक बिम्बों को कविता स्वयं स्पष्ट करती आगे बढ़ी है। साधना, पात्रता, मौन, संगीत का अवतरण, इयत्ता, श्रुति, तथता के सब सूत्र स्वयं ही खोलती हुई। इतर व्याख्या किसी पूर्वग्रह से ही सम्भव है। यह कविता सारी स्थापनाएँ कथा के साथ खुद आगे गढ़ती चलती है। कविता का स्वयं का वितान अपने 'स्पेस' का अतिक्रमण कर रहा।

अपने आरम्भ से प्रस्थान तक यह कविता भाषा का जो सम्मोहन रचती है, वह अतिरिक्त।

सौम्य मालवीय

वीणा असाध्य है। पर क्यों? वीणा फ़िलहाल राजा के पास है। वीणा राजा की म्पत्ति है। राजा के लिए यह गौरव की बात है कि वज्रकीर्ति की निर्मित वीणा पर उसका अधिकार है। पर यह अधिकार अधूरा है। या अधिकार अधूरा ही होता है? यह अधूरापन राजा को मजबूर करता है कि वह इस वीणा को साधने के लिए किसी दक्ष वादक की ओर देखे। कई कलावन्त आते भी हैं पर कोई भी वीणा के स्वर झंकृत नहीं कर पाता। राजा सत्ता का प्रतीक है तो ये कलावन्त ज्ञान के। सत्ता के पास वीणा एक वस्तु की तरह है पर महज़ संग्रहालय में रखी किसी चीज़ जैसी। वह इससे कोई सार्थक रिश्ता जोड़ पाने के लिए ज्ञान का मुँह देखती है। ज्ञान के प्रतीक वे कलावन्त अपने समूचे अर्जित ज्ञान को उड़ेल देते हैं पर वीणा से स्वर नहीं फूटते। जहाँ तक ज्ञान भी सत्ता का ही एक स्वरूप है यह कहना ग़लत नहीं होगा कि राजा और निपुण संगीतज्ञ, दोनों के वीणा से रिश्ते सत्तात्मक अथवा सम्पत्तिमूलक खांचे में ढले हैं। दोनों ही वीणा पर नियन्त्रण चाहते हैं। एक उसे किसी और के ज़रिये पालतू बनाना चाहता है तो दूसरा स्वयं उसे अपनी सिद्धि से साध लेना चाहता है। पर वीणा असाध्य रहती है। दोनों के लिए वह एक बाह्य वस्तु है। इसीलिए रहस्यमय और अलौकिक है। उसे इस तरह वश में करना है कि वह अपने रहस्य बताने पर मजबूर हो उठे और बज उठे। पर वश में आना तो दूर वीणा असम्पृक्त रहती है। निस्पन्द, निर्वाक्। पर प्रियंवद केशकम्बली, वह साधक जो स्वयं को वीणा के आगे समर्पित करता है और वीणा अंतत: अपने संगीत से उपस्थित जनों को उपकृत करती है, उसका वीणा से कैसा सम्बन्ध है? प्रियंवद वीणा को प्रकृति से संस्कृति के संक्रमण के प्रतीक के तौर पर देखता है। प्रसिद्ध फ्रेंच नृविज्ञानी क्लॉड लेवी स्ट्रॉस प्रकृति से संस्कृति की थीम को आदिम या आदिवासी चिन्तन की धुरी मानते हैं। अपने सांस्कृ

तिक क्रियाकलापों के ज़रिये, मसलन मिथकों और अनुष्ठानों को ले लीजिये, जनजातीय समुदाय इस थीम पर चिन्तन–मनन करते रहते हैं। इस तरह संस्कृति का प्रकृति पर दाय स्पष्ट रहता है और साथ यह भी कि संस्कृति प्रकृति का रूपान्तरण करते हुए एक मूलभूत और अनिवार्य हिंसा पर आधारित है। संस्कृति की यह शर्म ही उसे विनयशील बनाती है। लेवी स्ट्रॉस द्वारा विश्लेषित सैकड़ों दक्षिण अमेरिकी मिथक संस्कृति की अवधारणा में निहित इस पैथॉस को अभिव्यक्त करते हैं। मसलन मनुष्य को आग, संस्कृति का एक प्रमुख प्रतीक, कैसे मिली? कई मिथक आग के मूल स्वामी जैगुआर नाम के पशु से मनुष्यों को आग मिलने की कहानी कहते हैं। कैसे जैगुआर से धोखे से आग चुरायी गयी और अब वह मनुष्यों के कब्ज़े में है। ऐसा करते हुए ये मिथक संस्कृति की प्रकृति पर निर्भरता और इनके बीच निरन्तरता दोनों को अभिव्यक्त करते हैं। संस्कृति प्रकृति को रूपान्तरित तो कर देती है पर अपने रेशे–रेशे में प्रकृति को, परिवेश को, अपने स्रोतों, सूत्रों और उद्गमों को ज़िंदा रखती है। प्रियंवद वीणा से, संस्कृति के प्रतीक से, उसकी पीड़ा और प्रेम से जुड़ता है। उसके लिए वह एक रहस्यमय वस्तु ना होकर के प्रकृति की तरफ़ खुलने वाला एक पुल है। वह वीणा के साथ, वीणा की तरफ़ से प्रकृति के प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करता है। वह उस श्रम, उस साधना के आगे नतमस्तक होता है जिसने इस वीणा को आकार दिया। वह वीणा की ख़ामोशी को छूता है। ध्यानपूर्वक, एक तापसिक धैर्य के साथ। वीणा जिस श्रम से निर्मित है उसमें निहित सर्जना भाव और इसी भाव में निहित अनिवार्य हिंसा से वह अंगीकार होता है। वीणा की ख़ामोशी एक नादमय मौन में बदल जाती है। ख़ामोशी से एक आहत और आत्मलीन चुप्पी का आभास होता है पर मौन केवल चुप्पी नहीं ध्वनियों का संघनित रूप भी है। वीणा बज उठती है पर वह केवल बजती ही नहीं मानो किसी अनुष्ठान के समय में प्रवेश कर जाती है और उपस्थित जनों को भी ले जाती है। प्रियंवद का वीणा से रिश्ता श्रममूलक है और अगर श्रम को केवल सेकुलर अर्थों में ना लें तो ध्यानमूलक भी। एक तरफ़ अधिकार है तो एक तरफ़ श्रम। जहाँ तक अधिकार का प्रश्न है वीणा एक वस्तु–निज रूप रहती है। अप्राप्य, अबूझ, अजनबीकृत और पराई। पर जहाँ तक श्रम की दृष्टि है, प्रकृति का संस्कृति में रूपान्तरण है, वीणा सही अर्थों में वाद्य हो उठती है। उसके स्वरों में सबके अपने अपने काम्य ध्वनित होते हैं। पर स्वार्थ से प्रेरित नहीं एक स्वत: स्फूर्त और अबोध भाव से। प्रियंवद का वादन मानो इसका प्रतीक है कि प्रकृति और संस्कृति के आदिम प्रश्न को यदि मनुष्य अपनी चेतना में जगह देता है तो अपनी इक्षाओं को पूरा करते हुए भी, अपनी कामनाओं को सजाते हुए भी, वह अपने परिवेश और वातावरण से बेगाना नहीं होता। उसके स्वप्न उसमें अवस्थित कृतज्ञता भाव से परिष्कृत होते रहते हैं और कभी प्रकृति– संस्कृति की सूक्ष्म पारस्परिकता का अतिक्रमण नहीं करते। असाध्य वीणा को हम भाषा के तौर पर भी देख सकते हैं और प्रियंवद के वादन को कविता की तरह। प्रश्न उठता है कि क्या अज्ञेय प्रियंवद हैं? तो फिर गुफ़ा का प्रतीक किस ओर इंगित करता है? भाषा पर माथा टेके ध्यानमग्न अज्ञेय किन आदिम सूत्रों की पड़ताल कर रहे हैं? यह सारे प्रश्न महत्वपूर्ण हैं और कविता को इस तरह भी पढ़ा जा सकता है। फ़िलहाल इस बात को कहते हुए इस चर्चा को ख़त्म किया सकता है कि प्रियंवद की साधना की तरह, कविता की सम्भावना भी वहाँ से ही शुरू होती है जहाँ लिखने वाला भाषा पर अपना अधिकार जमाना छोड़ देता है। इस बात को अज्ञेय से बेहतर भला कौन समझ सकता था। क्या हम भी अपनी भाषा में अजनबी होने के लिए तैयार हैं ताकि हम फिर से उसे पहचान सकें? इस बिन्दु से कविता पर एक नये तरह का विमर्श शुरू हो सकता है जिसमें कविता या कवि के चमत्कार नहीं भाषा और प्रकृति के रिश्ते केन्द्र में होंगे।

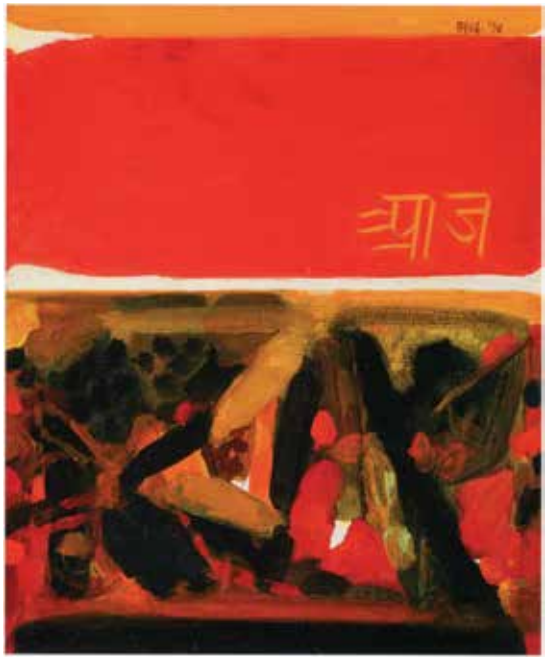

मोनिका कुमार

अज्ञेय रचित 'असाध्य वीणा' लम्बी कविता की सुदीर्घ परम्परा का निर्वाह करती हुई और इस परंपरा के कारण इस विधा में प्रतिष्ठित हुए हमारे आग्रह को पूरा करते हुए उस में कुछ नवीन और मौलिक प्रयोग भी जोड़ कर जाने वाली अनूठी कविता है। लम्बी आख्यानात्मक कविता होने के कारण इस में बहुत कहानियाँ, पात्र और कई प्रकट और अप्रकट सन्दर्भ आते हैं। पाठक और आलोचक अपनी रुचि अनुकूल और अपने पाठकीय सामर्थ्य अनुसार वांछित बिन्दु से इस कविता के पाठ में प्रवेश कर सकता है।

राजा प्रियंवद को वीणा के सृजन के इतिहास और रहस्य से परिचित कराता है और साथ ही वाद्य यन्त्र के तौर पर इस वीणा के असम्भव वादन की कथा से भी क्योंकि बहुत से कलाकारों और ज्ञानी गुणी जनों की असफलता ने इस वीणा को असाध्य वीणा बना दिया है। वीणा के इस सघन इतिहास को जानकर प्रियंवद भी एक बार इस वीणा वादन के बारे में आत्म संशयित होकर कहता है कि वह केवल साधक है कलावन्त नहीं लेकिन फिर भी अपनी वृत्तियों को समेट कर सभा के 'स्पन्दित सन्नाटे' में वीणा को गोद में रख लेता है। अज्ञेय यहाँ बहुत महत्वपूर्ण बात कहते हैं।

"मौन प्रियंवद साध रहा था वीणा
नहीं, अपने को शोध रहा था
सघन निविड़ में वह अपने को
सौंप रहा था उसी कीरीटि तरु को"

यह आत्मशोध शायद सन्नाटे को कलाकार के एकान्त में बदलने की रचनात्मक प्रक्रिया है।

वज्रकीर्ति ने इसे कीरीटि तरु से गढ़ा, तरु का विराट स्वरूप है, उसकी जड़ इतनी गहरी है कि पाताल लोक में उसकी गन्ध प्रवण शीतलता से फण टिका कर नाग वासुकि सोता था, कन्धों पर बादल सोते थे और कानों में हिम शिखर अपने रहस्य कहा करते थे। अज्ञेय वीणा के भौतिक स्वरूप की व्याख्या में सघन शब्द चित्र प्रस्तुत करते हैं, वीणा के आसपास जैसा गरिष्ट टेक्सचर अज्ञेय रचते हैं उसे पढ़ कर स्वाभाविक ही अँग्रेज़ी के अप्रितम रोमांटिक कवि जॉन कीट्स की याद आती है जो इसी तरह की उर्वर कल्पना से अपनी प्रसिद्ध संबोधन कविता 'ऑड टू ग्रेशियन अर्न' के आरम्भ में यूनानी कलश के इर्द गिर्द रोमांचक और इन्द्रियों को आप्लावित करने वाली व्याख्याएँ प्रस्तुत करते हैं जिससे कविता का मूड भी बनता है और मुख्य विचार की सशक्त पीठिका भी तैयार होती है। इसी तरह कविता में आगे बढ़ते हुए हम प्रकृति से समाज में पहुँचते हैं जहाँ वज्रकीर्ति ने वीणा के रूप में प्रकृति के रहस्य में मनुष्य का साहस और श्रम मिला दिया है। यह मेल मिलान वीणा में इस क़दर संश्लिष्ट हुआ है कि अब कोई अधिकारी मनुष्य ही इसका आस्वादन कर सकेगा और दूसरों को आस्वादन कराने के लिए माध्यम बन सकेगा। वज्रकीर्ति का इसे 'मन्त्रपूत' करने का आशय शायद यही है कि वस्तु को कला में बदल देने बाद उसे दूसरा किसी अर्जित प्रतिभा से जान सकता है। यह विचित्र बात है कि गेह गुफा में रहने वाले साधक प्रियंवद को एकान्त का इतना अभ्यास है कि वह राजा के दरबार में बैठा इस कठिन घड़ी में अन्ततः अपने लिए एकान्त बना लेता है, कलाकार का एकान्त बना लेता है जहाँ वह अभेद और वर्जित क्षेत्र में साधिकार प्रवेश पा लेता है और वीणा के तार झंकृत हो उठते हैं।

"भूल गया था केशकम्बली राज सभा को
कंबल पर अभिमन्त्रित एक अकेलेपन में डूब गया था"

'असाध्य वीणा' प्रकृति, समाज, कला और कलाकार के एकान्त के बीच सम्बन्ध, परस्परता, निजता और इन सभी की स्वायत्ता का सुन्दर आख्यान प्रस्तुत करती है। साथ ही साथ इस विचार को सुदृढ़ करती है कि कलाकार का एकान्त अनिवार्य तौर पर कलाकार के जंगल, गुफ़ा, पहाड़ प्रवास या स्टडी रूम का एकान्त नहीं होता बल्कि यह एकान्त उसका निरन्तर अभ्यास होता है जो धीरे–धीरे अवस्था के रूप में प्रवृत्त होता है। कलाकार का एकांत उसकी शक्ति है, उसकी एक मात्र गुप्त विद्या है जिसके प्रयोग से वह केवल अपने मन की नहीं दूसरे के मन की भी जान लेता है। 'असाध्य वीणा' विनम्र आग्रह करती हुई कविता है कि कलाकार का एकान्त अभिजात्य नहीं होता बल्कि सर्वहिताय होता है। वीणा जब झंकृत हुई तो राजा के दरबार में एकान्त का संक्रमण हो गया और इस पवित्र संक्रमण में राजा रानी ही नहीं बल्कि सभा में उपस्थित सभी जन–गण सिक्त हुए। वीणा वादन करता हुआ प्रियंवद अखण्ड जीवन का दृश्य प्रस्तुत करता है जिसका स्वप्न केवल कलाकार नहीं अपितु कोई भी सुहृदय मनुष्य देखता है।

राहुल तोमर

बोर्हेस ने कहा था कि शब्द साझा स्मृतियों के संकेत होते हैं, अज्ञेय को पढ़कर ये बात बरबस ही याद आ जाती है।

वे शब्दों को संकेतों की तरह इस्तेमाल करते थे।

हर संकेत से पाठक की कोई न कोई स्मृति जुड़ी रहती है और यदि कोई संकेत नया हो, तो भी वह उसे इस तरह प्रस्तुत करते कि पाठक जल्द ही अपनी कोई कोई न स्मृति उस से जोड़ ही लेता है।

'असाध्य वीणा' जापान की एक प्राचीन कथा 'टेमिंग ऑफ हार्प' पर आधारित है, परन्तु यह अज्ञेय की प्रतिभा ही है कि इस कथा को उन्होंने कुछ इस तरह कविता में मथा है कि यह कविता नितान्त भारतीय प्रतीत होती है। पढ़ने के बाद बहुत देर तक जुबां पर अपनी ही मिट्टी का स्वाद चस्पां रहता है।

तद्भव और तत्सम शब्दों की जुगलबंदी इस कविता में एकदम उपयुक्त लगती है।

'असाध्य वीणा' का पाठ करने में आनन्द की एक अलग सी अनुभूति होती है। ऐसा लगता है मानो, अज्ञेय ने कविता के भीतर वीणा की धुन छुपा रखी है जिसे कविता पढ़ते हुए आप धीरे–धीरे महसूस करते हैं परन्तु जिस समय कविता में वीणा झनझना उठती है ठीक उसी समय से वह धुन आपके हृदय में बजने लगती है। कविता पढ़ने के बहुत देर बाद तक लगता है कि हमनें कोई कविता नहीं बल्कि एक मंझे हुए संगीतकार का बेहतरीन संगीत सुना है।

'असाध्य वीणा' जो ऋषि वज्रकीर्ति द्वारा जीवन–पर्यन्त की गयी उनकी साधना की परम सिद्धि है। जिसे उन्होंने अति प्राचीन किरीटी–तरु से गढ़ा था, जिसकी जड़े पाताल लोक तक जाती थीं। कानों में हिम–शिखर रहस्य कहा करते थे अपने, और कंधों पर बादल सोते थे, राजा का विश्वास था कि वीणा असाध्य नहीं है। वह अब तक सध नहीं पायी थी इसलिए अपने असाध्य होने पर चर्चित हो गयी थी। राजा को भरोसा था कि 'केशकंबली प्रियवन्द' उसे साध लेगा, जबकि कई कलावन्त प्रयास कर हार गए पर नहीं सधी किसी से भी वह वीणा।

'असाध्य वीणा' के सम्मुख आ 'केशकंबली प्रियवन्द' शंका से घिर आया था कि वह कैसे साध पायेगा इसे जिसे बड़े–बड़े कलावन्त नहीं साध पाए।

इन पंक्तियों में उनकी शंका को साफ़ देखा जा सकता है।

'राजन! पर मैं तो
कलावन्त हूँ नहीं, शिष्य, साधक हूँ––
जीवन के अनकहे सत्य का साक्षी।
वज्रकीर्ति!
प्राचीन किरीटी–तरु!
अभिमन्त्रित वीणा!
ध्यान–मात्र इनका तो गद्‌गद् कर देने वाला है।'

क्योंकि वीणा को साधना सिर्फ़ वीणा को साधना नहीं था वज्रकीर्ति की साधना के आगे नतमस्तक हो उसे आत्मसात् करना था साथ ही उस किरीट तरु की स्मृतियों और अनुभूतियों को समझने का प्रायस करना था, जो सम्पूर्ण समर्पण के बिना अपना अहंकार त्यागे सम्भव नहीं था।

अपनी गोद में लेते हुए भी उस वीणा को प्रियवंद ने अपनी गोद में नहीं लिया अपितु स्वयं जा बैठे उस वीणा की गोद में, उन्होंने वीणा को साधने का प्रायस नहीं किया स्वयं को साधने का जतन किया सम्पूर्ण समर्पण से।

और उनके समर्पण को इन पंक्तियों से समझा जा सकता है।

'मैं नहीं, नहीं ! मैं कहीं नहीं !
ओ रे तरु ! ओ वन !
ओ स्वर–सँभार !
नाद–मय संसृति !
ओ रस–प्लावन !
मुझे क्षमा कर –– भूल अकिंचनता को मेरी ––
मुझे ओट दे –– ढँक ले –– छा ले ––
ओ शरण्य !
मेरे गूँगेपन को तेरे सोये स्वर–सागर का ज्वार डुबा ले !
आ, मुझे भला,

तू उतर बीन के तारों में
अपने से गा
अपने को गा'

जितने भी ज्ञानी कलाकार आये वे सब वीणा को साधने का प्रायस करते रहे इसलिये असफल रहे जबकि प्रियवन्द ने अपने भीतर झांका और वीणा की सहायता ले स्वयं को साधने का प्रयास करने लगा जिसमें अन्ततः उसे सफलता भी प्राप्त हुई। इसमें यह संदेश भी छुपा हुआ है कि न जाने ऐसे कितने प्रश्न हैं जिनका उत्तर हम बाहर खोजते रहते हैं जबकि सारे जवाब हमारे भीतर ही होते हैं।

वीणा जब बजी तो सबने उसे अलग–अलग सुना ऐसा इसलिए हुआ क्योंकि जैसी हमारी मनोस्थिति होती है हम ठीक वैसे ही भावों को ग्रहण करते हैं। कला वह समन्दर है जिसके भीतर असंख्य मोती हैं अब यह गोताखोर के ऊपर है कि वह कितना गहरा उतर पाए और कौन–कौन से मोती चुन लाये।

यह कविता इसलिए महत्वपूर्ण है कि जयशंकर प्रसाद की कामायनी के बाद पहली बार कोई बड़ी कविता, इतने बड़े फ़लक पर जाकर रचनात्मक अद्वैत की प्रतिष्ठा करती है। इस कविता के भीतर जब संगीत बजता है, तो सब उसे अपनी–अपनी तरह से सुनते हैं। उसी तरह इस कविता को भी हम सब अपनी–अपनी तरह से पढ़ते हैं। इस तरह कविता और संगीत एक ही धरातल पर खड़े हो जाते हैं। एक युवा कवि की तरह मैं इसमें से कौन–सा संगीत सुनना चाहता हूं? वह यह कि कला अद्वैत में पलती है। साधक और साधना को एक होना पड़ता है, संगीत और संगीतकार को एक होना पड़ता है, रचना और रचनाकार को एक होना पड़ता है. मैं बड़े सिद्धांतों की बात किए बिना एक होने के इस भाव को अपने साथ रखना चाहता हूं। एक कवि के तौर पर मुझे अपनी कविता के साथ एक होना होगा। साधना के उस शिखर तक पहुँचना ही होगा। क्या जीवन का सबसे बड़ा संघर्ष यही नहीं है? हम सबका जीवन एक असाध्य वीणा है, बजने से इंकार कर रही है। क्यों? क्योंकि हम अपनी वीणा से एक नहीं हो रहे, इसी जीवन को हम किसी पराए की तरह जी रहे हैं। जिन–जिन लोगों ने अपने जीवन के साथ एक होकर उसे जिया है, देख लीजिए, उन सबके जीवन की वीणा सजी है, उन सभी ने इस मनुष्य–जाति को अपने होने के सुन्दर संगीत से गुंजायमान किया है। वीणा से एकाकार हो जाएँ, जीवन से एकाकार हो जाएँ, दोनों ही असाध्य नहीं रहेंगे, एक होना एक चमत्कार है, जानियेगा, बेहद हैरतंगेज़ संगीत पैदा होगा।

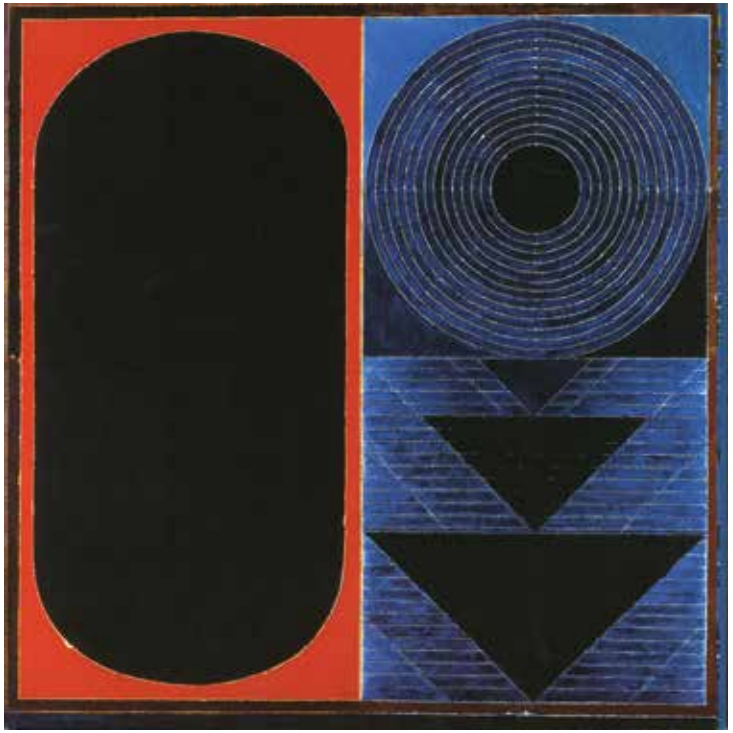

मिथलेश शरण चौबे

"अज्ञेय की चिन्ता एक व्यापक मानव–संस्कृति को लेकर थी। संस्कृति के मूलाधार भाषा और भाषा के उत्कर्ष–रूप साहित्य में इस चिन्ता का एक अंग था रचनाकार की स्वाधीनता और दूसरा अंग था साहित्य की आत्यन्तिक, शाश्वत और समय निरपेक्ष कसौटी। अज्ञेय की संघर्ष यात्रा इस दोहरे उत्तरदायित्व को वहन करने से ही शुरू होती है। अज्ञेय की विशिष्टता सिर्फ़ इस बात में नहीं है कि उन्होंने इस दोहरे उत्तरदायित्व को झेला। बल्कि यह भी कि उसे सिर्फ़ अनुभूति मात्र के स्तर पर न झेलकर उन्होंने उसे वैचारिक स्तर पर भी अपनी सृजनाकांक्षा के साथ जोड़ा।" – मलयज

मुझे स्मरण है :

कविता द्वारा अनायास ही हो सकने वाले दो–चार उपक्रमों में से एक यह भी है कि वह हमें स्मृतियों से जोड़ती है, उनसे लगभग टूट चुके हमारे रिश्तों को पुनर्स्थापित करती है। यथार्थ के अभ्यस्त आग्रहियों के समक्ष स्मृतियों के विपुल संसार का साक्षात्कार किंचित् अप्रत्याशित तो है ही। निर्मल वर्मा तो इसे कलाकृति के सत्य रूप में ही ज़ाहिर करते हैं– "कलाकृति का सत्य– यदि उसका कोई सत्य हो सकता है तो वह मनुष्य को

उसकी स्मृति में लौटना है।"

असाध्य वीणा में दो बार– हाँ, मुझे स्मरण है :

तथा चार बार– मुझे स्मरण है, अर्थात् कुल छह बार इतनी साफ़गोई के साथ किरीटी तरु में संचित ध्वनियों, दृश्यों, घटनाओं, मौसम के उतार–चढ़ावों आदि को याद किया गया है। प्रियंवद जो खुद को साधक ही मानता है, वह अपने को शोध करने के लिए किरीटी तरु की स्मृतियों को टटोलता है। उपांग (वीणा) की सम्भावना को चरितार्थ करना अंगी (किरीटी तरु) में अन्तर्निहित को जाने बिना कैसे सम्भव है? इस स्मरण में अपनी अकिंचनता का बोध भी शामिल है। दरअसल ज्यों ही हम किसी की विराटता को मान्य करते हैं, उसके समक्ष सहज रूप से ही हमें अपनी लघुता का बोध भी होता है। यहाँ इस कविता में स्मृति किसी स्वप्नलोक को रचने की चेष्टा नहीं करती बल्कि वह प्रियंवद की निरुपायता को एक सम्बल प्रदान करती है। स्मृतियों का यही लोक वीणा के असाध्य होने का प्रमाण देता है और फिर प्रियंवद को साध सकने की पात्रता भी।

एक कवि के रूप में अज्ञेय भी कविता को साध रहे हैं जो हमारी परम्परा और संस्कृति का अंग है। कविता लिखने का दावा कर कविता कैसे लिखी जा सकती है–

"कौन प्रियंवद है कि दंभ कर
इस अभिमन्त्रित कारुवाद्य के सम्मुख आवे?"

यह परम्परा और संस्कृति के समक्ष (जिसमें कलाओं की, कविता की भी परम्परा व संस्कृति अनुस्यूत है) खुद के समर्पण से ही सम्भव हो सकेगा। इस अर्थ में यह कविता सिर्फ़ आत्माभिव्यक्ति की खोज ही नहीं है यह एक सच्चे कवि के होने की अनिवार्य व प्रामाणिक शर्त का भी निपट साक्षात्कार कराती है।

यह कविता किसी कृति के सच्चे पाठ की भी प्रस्तावना है। आलोचनात्मक उपक्रमों के निजी पूर्वाग्रहों के बरक्स असाध्य वीणा के बनने में वज्रकीर्ति का तप और किरीटी तरु का समृति–संसार जानना, असंदिग्ध रूप से किसी कृति की अन्तर्ध्वनियों और निश्चित ही नयी सम्भव आहटों को जान लेने का मुमुक्षु भाव है।

निराला की सरोज–स्मृति कविता में मलयज ने पिता–पुत्री के रिश्ते के अलावा कृतिकार और रचनात्मक सामर्थ्य के जिस तनाव का उल्लेख किया है कुछ उसी तरह की लेकिन अत्यन्त संयत और विनयपूर्ण मुद्रा का साक्षात्कार असाध्य वीणा में भी विन्यस्त है।

सहसा वीणा झनझना उठी :

वीणा के झनझनाते ही प्रियंवद की आँखों में साधक की तृप्त चमक के साथ ही सभी उपस्थितों पर अलग–अलग असर दिखायी पड़ता है–

डूब गए सब एक साथ।
सब अलग–अलग एकाकी पार तिरे।

यह अलग–अलग तिरना भी सिर्फ़ यथार्थ की आकांक्षाओं का प्रतिफल नहीं है। सबकी वैचारिक निर्मिति भिन्न है और सभी की स्मृतियों का संसार भी अलग है। किरीटी तरु की बहुरागवैभवपूर्ण स्मृतियों के बजाय यहाँ सभी की एकांगी आत्मकेन्द्रित स्मृतियाँ और उनके प्रश्रय में निर्मित अभीष्ट है। इसीलिये किसी भी तरह की

रचनात्मक आकांक्षा का इन सबके यहाँ अभाव है, सिर्फ़ आत्ममुग्ध मनोदशा ही यहाँ प्रकट हो पाती है, दूसरे के अतिक्रमण से मुक्त सदिच्छा की तरह। हालाँकि वीणा के संगीत का यह प्रभाव भी कम तो नहीं ही है।

यदि हम खुद सन्धान नहीं कर रहे हैं तो प्राप्य इतना ही हो सकता है।

वह जो अपनी परम्परा और संस्कृति से सघन रूप से सम्बद्ध है, उसमें अन्तर्निहित अन्यान्य प्रवाहों का संस्पर्श कर रहा है, उसकी तमाम स्मृतियों–श्रुतियों के समक्ष कृतज्ञ भाव से अपनी रचनात्मकता की उर्वरता का आकांक्षी है, वही असाध्य का संवरण कर सकता है।

विषय को व्यक्त करते हुए भाषा निरी भाषा नहीं रह पाती, वह जैसे खुद में से होकर ही वर्ण्य को गुजरने देने का सख्य भाव पोषित कर रही होती है। हमें भले ही लगता रहे कि कथ्य की ऊष्मा में आलोकित होना ही भाषा की विह्वलता है लेकिन असाध्य वीणा में भाषिक लय और शब्दों का सांगीतिक विन्यास इस प्रचलित सरलीकरण को ख़ारिज करता है। वीणा से स्वर कविता के उत्तरार्ध में झनझनाते हैं लेकिन भाषा अपनी संगीतमयता से यह उपक्रम कविता के प्रस्थान से करने लगती है।

निशांत

'असाध्य वीणा' अपने शीर्षक से ही में खींचती है। वास्तव में यह काव्य में कहानी अर्थात् प्रबन्ध काव्य या महाकाव्य का आधुनिक वर्जन (रूपान्तरण) है। प्रदीर्घ कविता (अँधेरे में या राम की शक्तिपूजा) नहीं, बल्कि लम्बी कविता है।

कविता की शुरुआत से ही इसमें एक कथा तत्व या कथा चलती रहती है। पहले कविता की लम्बी उम्र के लिए लय–छन्द–तुक–बुक का सहारा लेना पड़ता था, वहीं आधुनिक समय में कथा से कविता की आयु में बढ़ोत्तरी हो रही है। वास्तव में कहानी से कविता की आयु बढ़ती है। कविता कहानी को उसकी पूरी संवेदनशीलता के साथ, कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक लोगों तक सम्प्रेषित करती है। अज्ञेय जी की ही दो छोटी कविताएँ––''साँप'' और ''सोन मछली'' याद आ रही है। इन कविताओं के व्यंग्य और कथा को कहने के लिए कहानीकार पता नहीं, कितने पृष्ठ ख़र्च करते।

यह कविता वास्तव में आधुनिक काव्य–कला का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। कविता या किसी भी ललित कला का जो उद्देश्य होता है कि मनुष्यता को बचायें, व्यक्ति या आदमी जो कि एक सामाजिक जानवर (प्राणी) है को मनुष्य बनायें को भी बड़े ही लालित्यपूर्ण ढंग से कहती है––

''ईर्ष्या, महत्वाकांक्षा, द्वेष, चाटुता
सभी पुराने लुगड़े से झर गये, निखर आया था जीवन–कांचन''

और आगे कहती है–

''तुम्हारे ये मणि–माणक, कण्ठहार, यह वस्त्र मेखला–किंकिणि
सब अंधकार के कण हैं ये। आलोक एक है प्यार अनन्य!''

इस तरह बेहतर मनुष्य बनाने के लिए जो औज़ार हैं, उसकी तरफ़ बहुत ही कम शब्दों में कविता इशारा कर के मौन होती है। और एक बात जिसकी चर्चा किए बिना, इस कविता का पाठ अधूरा रहेगा। कला के पास कलावन्त हो कर नहीं, शिष्य या साधक बनकर जाना पड़ता है। 'अपने को', 'सब कुछ' को सौंपना पड़ता है।

पिछले बीस सालों से मैं कविता का सजग पाठक हूँ, (अपनी अज्ञानता में यह बात कह रहा हूं।) कितने कवियों को आते–जाते देखा हूँ। मेरा अनुभव अज्ञेय की इस कविता के सामने कितना तुच्छ जान पड़ता है। अपनी तुच्छता से उबरने के लिए भी हमें बार–बार अपने काव्य नायकों के पास जाना पड़ता है, चाहे वे अज्ञेय हों या मुक्तिबोध या अन्य। जाना, अपने को फिर से ऊर्जस्वित करना है। थोड़ा 'बेहतर मनुष्य' बनना है। अज्ञेय जी की इस कविता में 'बेहतर मनुष्य' बनाने की क्षमता है, यह मैं अपने निजी अनुभव से कह रहा हूँ।

कहने को बहुत सारी बातें कही जा सकती हैं। लिखी जा सकती हैं। व्याख्यायित की जा सकती हैं। पर फ़िलहाल इतना ही।

शंकरानंद

कविता में 'असाध्य वीणा' की याद जब आती है तो असाध्य को साधने की एक कोशिश के रूप में ज्यादा आती है। हमारा समय जितना जटिल है, उससे उबरने के तरीक़े भी उसी जैसे हों, ये ज़रूरी है। पर जहाँ दर्प है, वहीं हार है। जो स्वयं को कलावन्त मानता है उसकी सारी कलाएँ धरी की धरी रह जाती हैं। वे उसके काम नहीं आती। वह भरी सभा में लज्जित (अगर उसमें थोड़ी भी लज्जा बची हो तो) होता है। यह हार दरअसल उसकी अयोग्यता से उपजी है और अयोग्य वह अपने को मानने को तैयार नहीं है। समस्या यहीं से शुरू हो जाती है। यह कविता बताती है कि अपने अहं का त्याग किए बिना सफलता असम्भव है। दर्प को अन्ततः टूटना ही होता है।

असाध्य वीणा के केन्द्र में ही आस्था है। विश्वास है पर एकदम क्षीण। कोशिश करने जैसा। यहां वह आत्मविश्वास नहीं है जो विजेता की भाषा और भंगिमा में ही दिख जाती है। यह अज्ञान से उपजे अंधकार के एकदम विपरीत है। इसीलिए प्रियंवद का आना ही राजा को उम्मीद से भर देता है। उसे पता है कि प्रियंवद

केशकंबली ही असाध्य वीणा को साध सकता है। इसलिए साध सकता है कि वह सच्चा साधक है। वह शासन और सत्तातन्त्र से दूर है। यही कारण है कि उसमें कलावन्तों जितना दर्प नहीं है। वह ताकत के मद में चूर नहीं है। वह तो गेह गुफा में रहता है जिसके लिए राजसी ठाट बाट और सुख़ सुविधा धूल समान है। उसके लिए इनका कोई मोल नहीं। यही उसे विशिष्ट बनाता है। राजा को उसके आने से ही आभास हो जाता है कि अब उसके 'जीवन की साध पूरी होगी।'

अज्ञेय ने इस कविता में दोनों पक्ष को सामने रखा है। एक पक्ष जो दरबार और दरबारी संस्कृति का है और दूसरा जो अकेला प्रियंवद है। यह एक तरह से हमारे समय और समाज का ही चित्रण है। सत्ता जहाँ विरोधी को अकेला करने की साजिश दिन रात करती है। यह समय जो कि अकूत ताकत और हिन्सा से भरा है। ये राजसी वैभव जहाँ की संस्कृति ही दूषित है। यहां सब कुछ पहुँच और चाटुकारिता पर निर्भर है। सत्य और निष्ठा पर विश्वास करने वालों के लिए उस दरबार में कोई जगह नहीं। वहाँ वही भरे हैं जो ज्ञानी और गुणी हैं। एकदम कलावंत। उनकी भाषा में शासन की भाषा बोलती है। जबकि कला के लिए यह एकदम विरोधी स्थिति है। जहां ताकत होगी वहाँ कला नहीं होगी। कला और ताकत एक दूसरे के दुश्मन हैं। यही कारण है कि वीणा को बजाने की कोशिश सब करते हैं पर वह बजती किसी से नहीं। राजा भी इस सच को देख रहा है' मेरे हार गये सब जाने माने कलावन्त/सब की विद्या हो गई अकारथ, दर्प चूर/कोई ज्ञानी गुणी आज तक इसे न साध सका।' पर वह कुछ कर नहीं सकता। उसे भी ऐसे दरबारियों की आदत सी हो गयी है। उसे वैसी ही भीड़ चाहिए जो उसका गुण गाये। उसकी तारीफ में कसीदे गढ़े। पर इस राजा में इतनी चेतना बची है कि वह वीणा के संगीत को सुनने की इच्छा भी रखता है। यह इच्छा संगीत के प्रति राजसी इच्छा संस्कृति से कुछ भिन्न है। प्रियंवद केशकंबली का आना इसी इच्छा को फलीभूत होते देखना है। उसे पता है कि 'वीणा बोलेगी अवश्य, पर तभी/जब इसे सच्चा—स्वरसिद्ध गोद में लेगा।' उसके भीतर भी ईर्ष्या, महत्वाकांक्षा, द्वेष, चाटुता भरा हुआ है जो शासन का अनिवार्य अंग बन गया हैं। पर उसमें मनुष्यता और करुणा का स्रोत अभी सूखा नहीं है। यही कारण है कि संगीत को सुनने के बाद ये सभी 'पुराने लुगड़े से झर गए' और वह वैसे ही निखर गया जैसे तपने के बाद सोना निखर जाता है।

यह कविता मिथक के कारण एक ऐसा वातावरण तैयार करती है जो रोचक है। यह अपने आख्यान में चकित कर देती है। यह चकित करना अपने परिवेश में बांधने जैसा है। यहाँ कोई जादू नहीं है जो भ्रमित कर दे। जिस असाध्य वीणा को बजाना कठिन है वह बनी भी 'अति प्राचीन किरीट—तरू' से है। वह किरीट तरू जिसके कानों में हिम—शिखर रहस्य कहा करते थे। जिसके कंधों पर बादल सोते थे। जिसकी जड़ पाताल—लोक तक थीं। उसी किरीट—तरू से वज्रकीर्ति ने इसे गढ़ा है। जो किरीट—तरू विशाल है। उसके भीतर अथाह संगीत है। इसे वही बजा सकता है जो 'सच्चा—स्वरसिद्ध' हो। स्वरसिद्ध वही होगा जिसे सृजन की पहचान होगी। वह पहचान प्रियंवद को है। जब प्रियंवद के आगे वह वीणा रखी जाती है तो सभी की उत्सुक आँखें उसे देखने लगती हैं। पर प्रियंवद को इससे फर्क नहीं पड़ता। कोई अतिरिक्त दबाव उसे स्वीकार नहीं है। वह उन सबके होने को भी एक झटके में उनकी अनुपस्थिति में बदल देता है। वह जानता है कि इस क्षण सिफ़ वह है और उसके सामने एक असाध्य वीणा। यही कारण है कि वीणा के साथ उसका व्यवहार एकदम अलग है।

दूसरे होते तो हाथ में आते उसके तार छेड़ देते। क्या पता बजा देने पर कोई पुरस्कार मिल जाय। कोई जागीर दे दी जाय। पर प्रियंवद!वह अपने कंबल खोलकर धरती पर बिछाता है। उस पर वीणा को रख अपनी पलक मूंदता है और उसे प्रणाम करता है। वह 'अस्पर्श छुअन' से उसके तार छूता है। वह अपने को एक शिष्य

मानता है। जो अब भी सीख रहा है। उसके भीतर इसके लिए जिज्ञासा भी है। वह अपने को कलावन्त भी नहीं मानता। इसीलिए राजा से साफ़—साफ़ कह देता है कि—कलावन्त हूँ नहीं, शिष्य, साधक हूँ/जीवन के अनकहे सत्य का साक्षी'। उसके लिए वज्रकीर्ति, किरीट—तरू के साथ वीणा का ध्यान—मात्र गद्गद् और विह्वल कर देने वाला है। उसे पता है कि यह मात्र वीणा नहीं है। इसमें प्रकृति का वह मधुर संगीत बसा है जिसका राग जीवन राग को उदात्त बना देता है। वह वीणा को बजाता नहीं है। उसके तारों पर माथा टेक देता है। और सभा देखती रह जाती है। सभा चकित है कि प्रियंवद सो रहा है। पर वह नहीं जानती कि 'मौन प्रियंवद साध रहा था वीणा'। वह इस तरह स्वयं अपने को शोध रहा था। वह अपने को उसी किरीट—तरू को सौंप देता है। वह अपने को वीणा की गोद में बैठा मोद भरा बालक मानता है—ओ तरू तात! संभाल मुझे/मेरी किलक पुलक में डूब जाए/मैं सुनूँ, गुनूँ/विस्मय से भर आंकें/तेरे अनुभव का एक—एक अन्तस्वर/गा तू: तेरी लय पर मेरी सांसें/भरें पुरें, रीतें, विश्रांति पाएं।' इसी से अंधियारे अंतस में आलोक जग सकता है। प्रियंवद ये भली भांति जानता है।

वीणा के असाध्य को वही साध सकता है जो किरीट—तरू तक पहुँच जाए। उसमें छुपे असंख्य स्वर को सुने। जहां बदली के कौंधने की आवाज है। वर्षा बूँदों की पट पट है। जहां घनी रात में महुए का चुपचाप टपकना है। पक्षी का चौंकना है। शावक की चिहुंक है। जहां झरनों का संगीत है। ढोलक की थाप है। गड़ड़िए की बांसुरी का संगीत जिसमें छिपा है। असंख्य कोमल तरल आवाज से भरा है वह किरीट—तरू जिससे वह वीणा वज्रकीर्ति ने गढ़ी है। प्रियंवद उस परिवेश से भी परिचित है। इसीलिए वह संगीत उसके स्मरण में है। वह उस जमीन से जुड़ा हुआ है। उसी में वह जीता है। गुफा में रहता है। तो वह जानता है कि वीणा को साधने के लिए उस किरीट—तरू के तार को झंकृत करना ज़रूरी है। वही वह करता है। जिस कारण स्वर—शिशु किलक उठते हैं और सहसा वीणा झनझना जाती है। उस संगीत का प्रभाव ऐसा है कि उसमें 'डूब गए सब एक साथ/सब अलग अलग एकाकी पार तिरे। उसमें डूबते सब एक साथ हैं पर पार उतरने में भिन्नता है।

उसका संगीत भी उसी किरीट—तरू जितना वैभवपूर्ण है। उतनी ही विविधता से भरा। राजा अलग सुनता है। रानी अलग सुनती है। प्रजाजन अलग सुनते हैं। जाकी रही भावना जैसी की तरह। किसी को बटुली में बहुत दिनों के बाद अन्न की आवाज सुनाई पड़ती है। किसी को नयी वधू की पायल ध्वनि। किसी को शिशु की किलकारी उसमें मिलती है किसी को जाल में फंसी मछली की तड़प। उसी में युद्ध का ढ़ोल है। प्रलय का डमरू—नाद भी। किसी को उसी में जल के छुल—छुल का संगीत सुनायी पड़ता है। यह संगीत दरअसल उसी साधना का परिणाम है जिसके लिए प्रियंवद 'गुफा—गेह' में रहता है। जिसके लिए उसने हर उस लोभ—लाभ का त्याग किया जो नये समय का अनिवार्य चलन है। जिसके बिना जीना बेमानी लगता है। पर उस जीने से असाध्य को साधने की कला नहीं आयेगी। सब वैभव होगा पर जो रचनात्मकता होगी वो ख़त्म हो जायेगी। इसके लिए उस लाभ का त्याग करना पड़ेगा जो सत्तातन्त्र के द्वारा दिया जाता है। अपना गुलाम बनाने के लिए।

डॉ रामस्वरूप चतुर्वेदी ने 'असाध्य वीणा' को भी 'अंधेरे में' की तरह रचना शक्ति की खोज का आख्यान कहा है। इस पूरी कविता में जो तैयारी है वह उसी रचना शक्ति की खोज के इर्द गिर्द है। यहां 'संगीतकार की सृजन—प्रक्रिया अनुभूति के तईं अपने को समर्पित करने में है।' शंभुनाथ कहते हैं कि 'अज्ञेय असाध्य वीणा में आधुनिकीकरण के बरक्स संगीत को एक रूपक बना देते हैं। वह संगीत से आधुनिक जीवन का एक ऐसा यूटोपियन संसार रचते हैं जिसमें अहं, कटुता, द्वेष, हिंसा, खुदगर्जी और यान्त्रिकता नहीं है। परमानंद श्रीवास्तव भी मानते हैं कि 'प्रियंवद के लिए वीणा बजाने की प्रक्रिया में अहं का विलयन अनिवार्य है।' सच्चाई भी यही

है कि 'अपने को भूल कर ही प्रियंवद को स्वर–सिद्धि मिली।' यह स्वर सिद्धि ही है जो संगीत को इतना पवित्र बना देती है कि उसमें मन के मैल धुल जाएं। राजा अपनी ईर्ष्या त्याग देता है। रानी के लिए उसके आभूषण जो चमक दमक से परिपूर्ण हैं वे भी अंधकार के कण में बदल जाते हैं। उसके प्रति पहले सा मोह नहीं रहता। यानी जो 'अन्त:करण का आयतन' है वह भी विस्तृत हो जाता है। एक रचना वही तो करती है। वह मनुष्य के भीतर की मनुष्यता पर जमी राख को एक झटके में हटा देती है। यह हटना ही उसकी उपलब्धि है।

अज्ञेय की असाध्य वीणा की प्रासंगिकता इसी में है कि यह भीड़ से अलग अपनी रचना शक्ति को तमाम तरह के खतरों से बचाने के लिए प्रेरित करती है। 'मुर्दा शान्ति' से भरा हुआ सृजन कूड़े के समान है अगर उसमें जीवन का संगीत नहीं। उसकी ध्वनि नहीं। साहित्य वह है जो विविधता से भरा हो खुले आसमान जितना बड़ा। तभी उसमें वे सारी आवाजें समा सकती हैं। जो दबी हुई हैं, जिन्हें आसानी से नहीं सुना जा सकता। दूर रहकर उसे महसूस नहीं किया जा सकता। इसके लिए उसी प्रकार पास जाना पड़ता है जैसे प्रियंवद वीणा के पास पहुँचता है। असाध्य को साधने की यही प्रक्रिया इस कविता को महतवपूर्ण बनाती है और यादगार भी।

22-11-2017 'kHkkjEHk 10%00 ct	vkjfHkd oDr0; राहुल सिंह की पुस्तक 'विचार और आलोचना' का लोकार्पण
22-11-2017 igyk l= 10-30 l 12-00 ct rd	vèkj e अबंर पांडेय, सुधांशु फिरदौस, लवली गोस्वामी, पल्लवी त्रिवेदी, विपिन चौधरी, संतोष कुमार चतुर्वेदी, गीत चतुर्वेदी
22-11-2017 nljk l= 12-00 l 01-30 ct rd	ftUnxhukek नेहा नरूका, शिल्पी, नीलोत्पल, समर्थ वशिष्ठ, पूनम अरोड़ा, अनुराधा सिंह, उपासना झा, विमल चन्द्र पाण्डेय
22-11-2017 rhljk l= 02-30 l 04-30 ct rd	vfHk0;fä dh Lor=rk dVkfr;k] pfli;k] prjkb vkj pkykfd;k पराग मांदले, कबीर संजय, अमिताभ राय, बलराम कांवट, मोबिन जहोरोद्दीन, मृत्युंजय प्रभाकर, आशीष पाठक
22-11-2017 pkFkk l= 05-00 l 07-00 ct rd	vfUre vj.; आशुतोष भारद्वाज, उदयशंकर, आस्तीक वाजपेयी, बाबुषा कोहली, शशिभूषण, प्रवीण कुमार
23-11-2017 ikpok l= 10-30 l 11-30 ct rd	ey;t dh vkykpuk उमाशंकर चौधरी, सिद्धांत मोहन, श्रीकांत दुबे, प्रभाकर सिंह, आशीष मिश्र
23-11-2017 NBk l= 11-30 l 01-00 ct rd	mldk cpiu अरुण शीतांश, अनुपम सिंह, जगन्नाथ दुबे, कुमार मंगलम, शिवानी, राहुल सिंह, ज्योति चावला, सोनी पाण्डेय
23-11-2017 lkrok l= 02-00 l 03-30 ct rd	ge D;k ;kn dj vkj D;k Hkwy jg g\ शेषनाथ पाण्डेय, राकेश रंजन, गौतम राजरिशी, हेमन्त देवलकर, शिव कुमार यादव, शिवेन्द्र
23-11-2017 vkBok l= 04-00 l 06-00 ct rd	vlkè; oh.kk शायक आलोक, सौम्य मालवीय, सुबोध शुक्ल, मोनिका कुमार, राहुल तोमर, मिथलेश शरण चौबे, निशांत, मृत्युंजय, शंकरानंद

रज़ा फ़ाउण्डेशन

रज़ा फ़ाउण्डेशन की स्थापना प्रख्यात चित्रकार स्वर्गीय सैयद हैदर रज़ा ने ललित कला, साहित्य, संगीत, नृत्य और विचार के संवर्द्धन और विशेषत: इन क्षेत्रों में सक्रिय युवा पीढ़ियों को प्रोत्साहित करने के लिए २००१ में की थी। इस ट्रस्ट ने, जो विधिवत् रजिस्टर्ड है, शुरूआत भारत के विभिन्न क्षेत्रों से चुने गए कलाकारों, कवियों, शास्त्रीय संगीतकारों और नर्तकों को एक–एक लाख रूपये के वार्षिक पुरस्कार देने से की। रज़ा के फ्रांस में ६० वर्ष जीवन और कलायापन के बाद २०१० के अन्त में भारत लौटने के बाद फ़ाउण्डेशन की गतिविधियों में विस्तार हुआ। उसके अन्य न्यासी अरुण वढेरा वीथिकाकार, उदयन वाजपेयी कवि–कथाकर, सदानन्द मैनन संस्कृति–समीक्षक, रणजीत होस्कोटे कवि–कलालोचक, प्रेरणा श्रीमाली नर्तकी, अखिलेश चित्रकार और मनीष पुष्कले चित्रकार–लेखक हैं। कवि–कलाविद अशोक वाजपेयी प्रबन्ध न्यासी हैं।

फ़ाउण्डेशन नयी दिल्ली में 'आर्टमैटर्स' कलाओं पर संवाद–परिसंवाद की एक सीरीज, अज्ञेय, दया कृष्ण, कुमार गन्धर्व, हबीब तनवीर, वासुदेव गायतोण्डे, मणि कौल, चार्ल्स कोरिया केलु चरण महापात्र की स्मृति में आठ वार्षिक स्मृति व्याख्यान क्रमश: साहित्य, विचार, संगीत, रंगमंच, ललित कला, सिनेमा, वास्तुकला और नृत्य पर आयोजित करता है। युवा शास्त्रीय कलाकारों के लिए उसके दो वार्षिक आयोजन हैं– मासिक 'आरम्भ' और वार्षिक 'उत्तराधिकार'। युवा कलाकारों की कई विशेष रूप से संग्रहीत प्रदर्शनियाँ वह आयोजित कर रहा है। उसने अज्ञेय, शमशेर बहादुर सिंह और मुक्तिबोध की जन्मशतियाँ व्यापक रूप से आयोजित की हैं। युवा हिन्दी लेखकों पर केन्द्रित उसका वार्षिक आयोजन है 'युवा' जिसमें हर वर्ष पचास से अधिक युवा भाग लेते हैं।

फ़ाउण्डेशन के तीन नियमित प्रकाशन हैं: हिन्दी त्रैमासिक 'समास', हिन्दी अनियतकालीन 'स्वरमुद्रा' और अंग्रेज़ी अनियतकालीन 'अरूप'। 'स्वस्ति' नाम से उसका न्यूज़लैटर अर्धवार्षिक है। उसने रज़ा के कृष्ण खन्ना, अन्य समकालीन चित्रकारों और अशोक वाजपेयी के साथ पत्राचार की तीन पुस्तकें प्रकाशित की हैं। साथ ही रज़ा के अपने लेखन और आत्मवृत्त की दो पुस्तकें।

फ़ाउण्डेशन कई व्यक्तियों और संस्थाओं को वित्तीय सहायता भी देता है जिनमें कोच्चि द्वैवार्षिकी, कृत्या अन्तरराष्ट्रीय कविता समारोह, कथक समारोह आदि के अलावा गोवा, कोलकाता, बैंगलूरु, पुणे आदि में आयोजन शामिल हैं।

जल्दी ही वह हिन्दी में विशेष पुस्तकों की रज़ा पुस्तकमाला का प्रकाशन होने जा रहा है जिसमें अगले तीन वर्षों में १०० पुस्तकें निकालने की योजना है।